

Prakrit Text Series No. 9

Āiriyasāmikumāarakattigeyēṇa Viraidā

BĀRASĀṆUVEKKHĀ

(KATTIGEYĀṆUPPEKKHĀ)

Insiparation and Guidance

His Holiness Jagadguru Swastishri Karmayogi
Shri Charukirti Bhattaraka Swamiji

EDITED BY

PROFESSOR DR. BHAGCHANDRA JAIN "BHASKAR"

PUBLISHED BY

NATIONAL INSTITUTE OF PRAKRIT STUDIES AND RESEARCH

DHAVALA TIRTHAM

Shravanabelagola-573135

Hassan Dist., Karnataka, India.

Phone : 08176 - 257228, 257132

Prakrit Text Series No. 9

Āiriyasāmikumāarakattigeyēṇa Viraidā

BĀRASĀṆUVEKKHĀ

(KATTIGEYĀṆUPPEKKHĀ)

Insiparation and Guidance

His Holiness Jagadguru Swastishri Karmayogi

Shri Charukirti Bhattaraka Swamiji

Chairman, National Institute of Prakrit Studies and Research

Shri Shravanbelgola (Karnataka)

EDITED BY

PROFESSOR DR. BHAGCHANDRA JAIN "BHASKAR"

First Edition

2009

Price :

PUBLISHED BY

NATIONAL INSTITUTE OF PRAKRIT STUDIES AND RESEARCH

DHAVALA TIRTHAM

Shravanabelagola-573135

Hassan Dist., Karnataka, India.

Phone : 08176 - 257228, 257132

Printed At :

प्राकृत ग्रन्थमाला क्र. ९

आइरियसामिकुमारकत्तिगेयेण विरइदा

बारशाणुवेवखा (कत्तिगेयाणुप्पेवखा)

ग्रन्थमाला सम्पादक

जगद्गुरु कर्मयोगी स्वस्तिश्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामीजी

सम्पादक

प्रोफेसर डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर

प्रकाशक

नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ प्राकृत स्टडीज एण्ड रिसर्च

श्रीधवला तीर्थम्

श्रवणबेलगोला - ५७३१३५

जिला - हासन, कर्नाटक, भारत

२००९

प्राकृत ग्रन्थमाला क्र. ९

आइरियसामिकुमारकत्तिगेयेण विरइदा

बारशाणुवेवखा (कत्तिगेयाणुप्पेवखा)

ग्रन्थमाला सम्पादक

जगद्गुरु कर्मयोगी स्वस्तिश्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामीजी

सम्पादक

प्रोफेसर डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर

प्रथम संस्करण २००९

मूल्य :

प्रकाशक

नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ प्राकृत स्टडीज एण्ड रिसर्च

श्रीधवला तीर्थम्

श्रवणबेलगोला - ५७३१३५

जिला - हासन, कर्नाटक, भारत

मुद्रक :

आइरियसामिकुमारकत्तिगेयेण विरइदा

बारसाणुवेक्खा

(कत्तिगेयाणुप्पेक्खा)

BENEDICTION

Barasanuvekkha or Kattigeyanuppekkha of Swami Kartikeya (about 2nd c.A.D.) occupies a significant position in Jain ideology. Thousands of its manuscripts are found in different Shastra Bhandaras. The concept of Anuvekkha or Anupreksha inspires us to ponder over the nature of the body and other substances. It is related to meditation, swadhyaya and penance that render possible the stoppage of the influx and shedding of karmas (Samvara and Nirjara). The topics of Anupreksha are more prone to spiritual progress. The origin and development of the ideology can be traced out from early and later Jain literature composed in Sanskrit, Prakrit, Tamil, Kannad and modern Indian languages. An ample literature on the subject is found in Jain tradition.

Barasanuvekkha consists of 489 Shaurasani Prakrit Gathas. It exposes the concept of twelve Anuprekshas and their sub-subjects in a systematic way the questionnaire method is also followed to make the subject interesting and important.

The National Institute of Prakrit Studies and Research has its sole object to impart the teaching of Prakrit and publish the ancient Prakrit Texts. We are glad to note that Professor Dr. Bhagchandra Jain "Bhaskar", the well-known scholar of International repute on Prakrit and Jainism and Pali and Buddhism has accepted our request to bear the responsibility to bring out the Prakrit Texts in a new form. He undertook the project very sincerely as a Vrata (Vow) and worked hard alone day and night and brought out the several volumes within a short period with detailed Hindi and English introduction. We have already published the Kasayapahuda, Kasayapahuda Cunnisutta, Kundakunda Granthavali and also

the Mulacara along with Hindi commentary in two volumes. The Satkhandagama, and Mahabandha, Tiloyapannatti and Bhagwati Aradhana are ready to give them in press. The Barasanuvekkha of Swami Kartikeya is the Ninth Text of its kind under the series which is now placed before the scholars for evaluation. Acarya Siddhanta- cakravarti Nemichandra's works, Joindu works, Devasena works and Dhavala and Jayadhavala and other Saurseni Prakrit & Apabhramsa Texts like Chandappahacariu, Dhammaparikkha are also getting ready for publication shortly.



Shrutakevali Education Trust
Shravanabelagola-573135
Hasan Dist. Karnataka
Dated: 26.06.2008

Svastishri Karmayogi
Shri Charukirti Bhattaraka Swamiji
Shrikshetra Shravanabelagola's
Chairman

ABOUT THE AUTHOR

Professor Bhagchandra Jain is a renowned scholar of Prakrit and Jainism and Pali and Buddhism. He did three D. Litts in Pali and Prakrit, Sanskrit and Hindi. Dr. Jain is a former Professor and Director of Jain Studies, University of Rajasthan, Jaipur, Professor and Head of the Department of Pali and Prakrit, Nagpur University, Professor and Director, Parsvanatha Vidyapeeth, Varanasi and Emeritus Professor, the Department of Jainology, University of Madras. At present he is a Joint Director of the National Institute of Prakrit Studies and Research, Shravanabelagola. Professor Jain is also associated with so many social and academic institutes. He delivered so many lectures in India and Abroad on Jainism and Buddhism and attended National & International conferences on the subject.

Dr. Jain is a recipient of more than fifteen literary prestigious awards like the Central Government of India, Kundakunda Jnanapeetha, Pradipa Kumar Rampuria, Ahimsa International, Srutasambardhana, Gommateshwar Vidyapeth Purashkar, Shravananavelgola etc. He is an author of about forty Research Volumes and editor and translator of so many Sanskrit and Prakrit ancient manuscripts. Jainism in Buddhist Literature, Jainism and Mahavira, Catuhsatakam of Aryadeva, Bauddha Sanskriti ka Itihasa, Jain Sanskriti Kosha in three volumes, Jaina-dharma aur Paryavarana, Candappahacariu, Dhammaparikkha, Prakrit Dhammapada etc. are his main contribution.

Professor Jain has done his Ph.D. from the Vidyodaya University of Srilanka under Commonwealth Fellowship in 1965. He was also awarded the UGC National Fellowship in 1985-87. He delivered lectures on Jainism and Buddhism in Indian and foreign Universities and assemblies of World's religions. He is a recipient of President Award for contribution to Prakrit & Pali field, 2004. He is also honoured as the man of year 2004 by the American Institute. He has also been the research fellow of the Lie University of USA.

विषयानुक्रमिका

BENEDICTION	5-6
ABOUT THE AUTHOR	7-8
विषयानुक्रमिका	9-2८
INTRODUCTION	29-42
उपस्थापना	४३-८६
बारसाणुवेवखा मूल	गाथा क्र. १-३१२
१. अनित्यानुपेक्षा	४-२२
पर्याय दृष्टि से प्रत्येक वस्तु अनित्य है । संसार के सब विषय क्षणभंगुर हैं । बन्धुबान्धवों का सम्बन्ध पथिकजनों की तरह क्षणिक है । लक्ष्मी की चंचलता का चित्रण धर्मकार्यों में लक्ष्मी का उपयोग करनेवालों की ही लक्ष्मी सार्थक है ।	
२. अशरणानुपेक्षा	२३-३१
संसार में कोई भी शरण नहीं है । जो भूतप्रेतों को रक्षक मानता है वह अज्ञानी है । सम्यग्दर्शनादि ही जीव के शरण हैं ।	
३. संसारानुपेक्षा	३२-७३
संसार का स्वरूप नरकगति के दुःखों का वर्णन तिर्यचगतिके दुःखों का वर्णन मनुष्यगतिके दुःखों का वर्णन देवगतिके दुःखों का वर्णन एक भव में अट्टारह नाते पांच परावर्तनों का स्वरूप	

विषय	गाथा क्रमांक
४. एकत्वानुपेक्षा जीव के अकेलेपन का कथन	७४-७९
५. अन्यत्वानुपेक्षा जीव से शरीरादि भिन्न हैं।	८०-८२
६. अशुचित्वानुपेक्षा शरीर की अशुचिता का कथन	८३-८७
७. आस्रवानुपेक्षा योग ही आस्रव है। शुभास्रवका कारण मन्द कषाय अशुभास्रवका कारण मन्द कषाय अशुभास्रवका कारण तीव्र कषाय मन्दकषाय के चिन्ह तीव्रकषाय के चिन्ह	८८-९४
८. संवरानुपेक्षा संवर के नाम संवर के हेतु गुप्ति, समिति, धर्म और अनुपेक्षा का स्वरूप परीषहजय उत्कृष्ट चारित्र का स्वरूप	९५-१०१
९. निर्जरानुपेक्षा निर्जरा का कारण निर्जरा का स्वरूप निर्जरा के भेद उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरावाले सम्यग्दृष्टि आदि दस स्थान अधिक निर्जरा के कारण	१०२-११४
१०. लोकानुपेक्षा लोकाकाश का स्वरूप	११५-२८३

विषय	गाथा क्रमांक
लोकाकाशका पूर्वपश्चिम विस्तार लोकाकाशका दक्षिण उत्तर विस्तार अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का विभाग लोक शब्द की निरुक्ति लोक में जीवों का अवस्थान त्रसनाली का स्वरूप जीवों के भेद साधारणकाय वाले जीवों के भेद साधारणकायिक जीव का स्वरूप सूक्ष्मकाय और बादरकाय का स्वरूप प्रत्येक वनस्पति के दो भेद सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक की पहचान पंचेन्द्रिय तिर्यचों के भेद पंचेन्द्रियतिर्यचों के जीव समास के भेद मनुष्यों में जीव समास के भेद नारकियों और देवों में जीव समास के भेद पर्याप्ति के छ भेद पर्याप्तिका स्वरूप निवृत्त्यपर्याप्त और पर्याप्त का स्वरूप लब्ध्यपर्याप्त का स्वरूप अन्तर्मुहूर्त में होनेवाले ६ ६ ३ ३ ६ भवों का स्वष्टीकरण तथा एक भवकी स्थिति का आनयन जीव के दस प्राण एकेन्द्रियादि पर्याप्त जीवों के प्राणों की संख्या अपर्याप्त जीवों के प्राणों की संख्या विकलत्रय जीव कहां रहते हैं ? मनुष्य लोक से बाहर रहनेवाले तिर्यचों की स्थिति आदि जलचर जीवों का आवास भवनवासी और व्यन्तरदेवों का निवास ज्योतिषी देवों का निवास	

विषय	गाथा क्रमांक
वैमानिक देवों का निवास नारकियों का निवास बादर प्रर्याप्ति तैजस्कायिक और वायुकायिक जीवों की संख्या पृथिवीकायिक आदि जीवों की संख्या सिद्धों और निगोदिया जीवों की संख्या सम्मूर्छन और गर्भज मनुष्यों की संख्या सान्तरजीव मनुष्य आदि की संख्या में अल्पबहुत्व का विचार गोम्मटसार के अनुसार जीवों की संख्या का विधान नरकों में जीवों की संख्या भवनत्रिकके देवों की संख्या में अल्पबहुत्व एकेन्द्रियजीवों की आयु का प्रमाण दोइन्द्रिय आदि जीवों की आयु का प्रमाण लब्ध्यपर्याप्तक और पर्याप्तकजीवों की जघन्य आयु का प्रमाण देवों और नारकियों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु का प्रमाण एकेन्द्रिय जीवों के शरीर की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना दोइन्द्रिय आदि जीवों के शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना नारकियों के शरीर की ऊंचाई भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के शरीर की ऊंचाई कल्पवासी देवों के शरीर की ऊंचाई कल्पातीत देवों के शरीर की ऊंचाई अवसर्पिणी के प्रथम काल के आदि में तथा छठे कालके अन्त में मनुष्यों के शरीर की ऊंचाई एकेन्द्रिय आदि जीवों के शरीर की जघन्य अवगाहना का प्रमाण जीव शरीरप्रमाण भी है और सर्वगत भी है । समुद्घात और उसके भेदों का स्वरूप जीव के सर्वव्यापी होने का निषेध जीव ज्ञानस्वभाव है, ज्ञान से भिन्न नहीं है । ज्ञानको जीव से सर्वथा भिन्न माननेपर गुणगुणी भाव नहीं बनता ।	

विषय	गाथा क्रमांक
जीव और ज्ञान में गुणगुणी भाव से भेद है । ज्ञान भूतों का विकार नहीं है । जीवको न माननेवाले चार्वाक को दूषण जीव के सद्भाव में युक्ति जीव शरीर में रहता है इससे दोनों को लोग एक समझ लेते हैं; किन्तु शरीर से मिला होने पर भी जीव ही जानता देखता है । जीव और शरीर में अभेद मानने का भ्रम जीव कर्ता है। भोवता है। जीव पुण्य और पापरूप है । जीव तीर्थ है । जीव के तीन भेद तथा परमात्मा के दो भेद बहिरात्मा का स्वरूप अन्तरात्मा का स्वरूप तथा उसके भेद उत्कृष्ट अन्तरात्मा तथा उसके भेद मध्यम अन्तरात्मा तथा उसके भेद जघन्य अन्तरात्मा तथा उसके भेद 'पर' शब्द की व्याख्या जीव को अनादि शुद्ध मानने में दोष सब जीव कर्मबन्धन को काटकर ही शुद्ध होते हैं । बन्ध का स्वरूप सब द्रव्यों में जीव ही परमतत्त्व है । जीव अन्तस्तत्त्व है, शेष सब बाह्यतत्त्व है । यह लोकाकाश पुद्गलों से भरा हुआ है । पुद्गलों के भेद प्रभेद रूप पुद्गलका स्वरूप पुद्गल का जीव के प्रति उपकार जीव का जीव के प्रति उपकार पुद्गल द्रव्य की महती शक्ति	

विषय

गाथा क्रमांक

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का उपकार
 आकाश का स्वरूप और उसके दो भेद
 सभी द्रव्यों में अवगाहन शक्ति है।
 यदि शक्ति न होती तो एक प्रदेश में सब द्रव्य कैसे रहते।
 काल द्रव्य का स्वरूप
 द्रव्यों में परिणमन करने की स्वाभाविक शक्ति है।
 सभी द्रव्य परस्पर में एक दूसरे के सहायक होते हैं।
 द्रव्यों की शक्तियों का निषेध कौन कर सकता है।
 व्यवहार कालका स्वरूप
 अतीत, अनागत, और वर्तमान पर्यायों की संख्या
 द्रव्य में कार्य कारण भाव का कथन
 प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है।
 अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, और सप्तभंगीका स्वरूप
 अनेकान्तात्मक वस्तु ही कार्यकारी है।
 सर्वथा एकान्तरूप वस्तु कार्यकारी नहीं है।
 नित्यैकान्तवाद में अर्थ क्रियाकारी नहीं बनता।
 क्षणिकैकान्तवाद में अर्थ क्रियाकारी नहीं बनता।
 अनेकान्तवाद में ही कार्यकारण भाव बनता है।
 अनादिनिधन जीव में कार्यकारण भाव की व्यवस्था
 स्वचतुष्टय में स्थित जीव ही कार्य को करता है
 जीव को परस्वरूपस्थ मानने में हानि
 ब्रह्माद्वैतवाद में दूषण
 तत्त्व को अणुरूप मानने में दूषण
 द्रव्य में एकत्व और अनेकत्व की व्यवस्था
 सत् का स्वरूप
 उत्पाद और व्यय का स्वरूप
 द्रव्य ध्रुव कैसे है।
 द्रव्य और पर्याय का स्वरूप
 गुण का स्वरूप

विषय

गाथा क्रमांक

द्रव्यों के सामान्य और विशेषगुण
 द्रव्य गुण और पर्यायों का एकत्व ही वस्तु है।
 पर्याय के भेद और उनका स्वरूप कथन
 द्रव्य में विद्यमान पर्यायों की उत्पत्ति मानने में दूषण
 अविद्यमान पर्याय ही उत्पन्न होती है।
 द्रव्य और पर्यायों में भेदाभेद
 सर्वथा भेद मानने में दूषण
 ज्ञानाद्वैतवाद में दूषण
 शून्यवाद में दूषण
 बाह्य पदार्थ वास्तविक है।
 सामान्यज्ञान का स्वरूप
 केवलज्ञान का स्वरूप
 ज्ञान सर्वगत होते हुए भी आत्मा में ही रहता है।
 ज्ञान अपने देश में रहते हुए ही ज्ञेय को जानता है।
 मनःपर्यय ज्ञान और अवधिज्ञान देशप्रत्यक्ष है।
 मतिज्ञान प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी है।
 इन्द्रियज्ञान का विषय
 मतिज्ञान के ३३६ भेदों का विवेचन
 इन्द्रियज्ञान का उपयोग क्रम से होता है।
 वस्तु अनेकान्तात्मक भी है और एकान्त रूप भी है।
 नयदृष्टि से अनेकान्त स्वरूप का विवेचन
 अनेकान्त के प्रकाशक श्रुतज्ञान का स्वरूप
 श्रुतज्ञान के भेद रूप नयका स्वरूप
 नय वस्तु के एक धर्म को कैसे कहता है।
 अर्थनय, शब्दनय और ज्ञाननय का विवेचन
 सुनय और दुर्नय का विवेचन
 अनुमान का स्वरूप
 अनुमान भी नय है।

विषय	गाथा क्रमांक
नयके भेद द्रव्यार्थिक नय का स्वरूप द्रव्यार्थिक नयके दस भेद पर्यायार्थिक नयका स्वरूप पर्यायार्थिक नय के छै भेद नैगम नय का स्वरूप संग्रह नय का स्वरूप व्यवहार नय का स्वरूप ऋजुसूत्र नय का स्वरूप शब्दनय का स्वरूप समभिरुद्ध नय का स्वरूप एवंभूत नय का स्वरूप नयों के द्वारा व्यवहार करने से लाभ तत्त्व को जाननेवाला मनुष्य स्त्री के वश में कौन नहीं है, इत्यादि प्रश्न उक्त प्रश्नों का समाधान लोकानुप्रेक्षा का माहात्म्य ११. बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा जीव अनन्तकाल तक निगोद में रहकर पृथिवी कायादि में जन्म लेता है । त्रसपर्याय की दुर्लभता त्रसपर्याय में भी पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है । पंचेन्द्रिय होकर भी संझी होना दुर्लभ संझी होकर भी नरक गति और तिर्यच गति में दुःख भोगता है । दुर्लभ मनुष्य पर्याय पाकर भी पापी म्लेच्छों में जन्म लेता है । आर्यवंश में जन्म लेकर भी उत्तम कुल मिलना दुर्लभ है । उत्तम कुल पाकर भी धनहीन होता है ।	२८४-३०९

विषय	गाथा क्रमांक
धनी होकर भी इन्द्रियों की पूर्णता होना दुर्लभ है । इन्द्रियों की पूर्णता होने पर भी शरीर रोगी होता है । नीरोग शरीर पाकर भी अल्पायु होता है और दीर्घजीवी होकर भी व्रतशील धारण नहीं करता शीलवान होकर भी साधु समागम दुर्लभ है । साधुसमागम पाकरभी सम्यक्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है । सम्यक्त्व को धारण करके भी चारित्र धारण नहीं करता और चारित्र धारण करके भी उसे पालने में असमर्थ होता है । रत्नत्रय धारण करके भी तीव्र कषाय करनेसे दुर्गति में जाता है । मनुष्य पर्याय को अतिदुर्लभ जानकर मिथ्यात्व और कषाय को छोड़ना चाहिये । देवपर्याय में शील और संयम का अभाव है । मनुष्यगति में ही तप ध्यानादि होते हैं । ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर भी जो विषयों में रमते हैं वे अज्ञानी हैं । रत्नत्रय में आदर भाव रखने का उपदेश १२. धर्मानुप्रेक्षा सर्वज्ञदेव का स्वरूप सर्वज्ञ को न माननेवाले चार्वाक, भट्ट आदि मतों का निराकरण सर्वज्ञोक्तधर्म के दो भेद, उनमें से भी गृहस्थधर्म के १२ भेद और मुनिधर्म के दस भेदों का कथन श्रावकधर्म के १२ भेदों के नाम सम्यक्त्व की उत्पत्ति की योग्यता उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व का स्वरूप काललब्धिआदि का स्वरूप दर्शनमोहनीय के क्षय का विधान उपशम और क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति तथा दोनों में विशेषता वेदकसम्यक्त्व का स्वरूप क्षयोपशम का लक्षण	३०२-४९९

विषय	गाथा क्रमांक
सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से होनेवाले चलादि दोषों का विवेचन क्षायोपशामिक सम्यक्त्व की स्थिति का स्पष्टीकरण औपशामिक और क्षायोपशामिक सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन और देशव्रत को प्राप्त करने और छोड़ने की संख्या नौ गाथाओं के द्वारा सम्यग्दृष्टि के तत्त्व श्रद्धान का विवेचन मिथ्यादृष्टि का स्वरूप कोई देवता किसी को लक्ष्मी आदि नहीं देता यदि भक्ति से पूजने पर व्यन्तर देव लक्ष्मी देते हैं तो धर्म करना व्यर्थ है। सम्यग्दृष्टि जानता है कि जिनेन्द्र ने जैसा जाना वैसा अवश्य होगा उसे कोई टाल नहीं सकता। जो ऐसा जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें सन्देह करता है वह मिथ्यादृष्टि है। तीन गाथाओं से सम्यक्त्व के माहात्म्य का कथन सम्यक्त्व के पच्चीस गुणों का विवेचन सम्यक्त्व के ६३ गुणों का विवेचन श्रावक के दूसरे भेद दर्शनिक का स्वरूप व्रतिक श्रावक का स्वरूप प्रथम अणुव्रत का स्वरूप अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार यमपाल चाण्डालकी कथा दूसरे अणुव्रत का स्वरूप अणुव्रत सत्य के पांच अतिचार धनदेव की कथा तीसरे अचौर्याणुव्रत का स्वरूप अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार वारिषेण की कथा चौथे ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार	

विषय	गाथा क्रमांक
नीली की कथा पांचवें परिग्रहपरिमाणुव्रत का स्वरूप परिग्रहपरिमाण के पांच अतिचार समन्तभद्रस्वामी के मतसे जयकुमार की कथा दिग्विरति नामक प्रथम गुणव्रत का स्वरूप दिग्विरति के पांच अतिचार दूसरे अनर्थविराति गुणव्रत का स्वरूप अनर्थदण्ड के पांच भेद अपध्यानका पांच लक्षण पापोपदेश का लक्षण प्रमादचर्या का लक्षण हिंसादान का लक्षण दुःश्रुतिका का लक्षण अनर्थण्ड का उपसंहार अनर्थदण्डविरति के पांच अतिचार तीसरे भोगोपभोगपरिमाण व्रत का स्वरूप भोगोपभोगपरिमाण व्रती की प्रशंसा भोगोपभोग के अतिचार गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों में आचार्यों के मतभेद का विवेचन सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप सामायिक करने के योग्य क्षेत्र सामायिक करने के योग्य काल सामायिक करने के योग्य की विधि सामायिक करने के योग्य के अतिचार प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का स्वरूप प्रोषधोपवास के अतिचार	

विषय	गाथा क्रमांक
पांच गाथाओं के द्वारा अतिथिसंविभागरत का स्वरूप	
पात्र के तीन भेद	
दाता के सात गुण	
दान की नौ विधियां	
चार दानों की श्रेष्ठता	
आहारदान का माहात्म्य	
दान का माहात्म्य	
अतिथिसंविभागरत के अतिचार	
देशावकाशिक शिक्षाव्रत का स्वरूप	
देशावकाशिकव्रत के अतिचार	
सल्लेखना धारण करने का उपदेश	
सल्लेखना का स्वरूप	
सल्लेखना के अतिचार	
व्रत का माहात्म्य	
सामायिक प्रतिमा का स्वरूप	
सामायिक की विधि वगैरह	
छै गाथाओं द्वारा प्रोषध प्रतिमा का स्वरूप	
प्रोषधोपवास का माहात्म्य	
उपवास के दिन आरम्भ का निषेध	
सचित्तविरत प्रतिमा का स्वरूप	
रात्रिभोजनविरति प्रतिमा का स्वरूप	
रात्रिभोजन त्याग का माहात्म्य	
ब्रह्मचर्य प्रतिमा का स्वरूप	
शील के अठारह हजार भेद	
आरम्भविरति प्रतिमा का स्वरूप	
परिग्रहविरति प्रतिमा का स्वरूप	

विषय	गाथा क्रमांक
अनुमोदनविरति प्रतिमा का स्वरूप	
उद्दिष्टविरति प्रतिमा का स्वरूप	
व्रतपूर्वक सल्लेखना धारण करने का फल	
वसुनन्दि आदि आचार्यों के मत से उद्दिष्ट प्रतिमा का विशेष कथन	
चारित्रसार आदि ग्रंथों के मत से उद्दिष्ट प्रतिमा का विशेष कथन	
चारित्रसार ग्रन्थ के मत से श्रावक धर्म का कथन	
यतिधर्म का स्वरूप	
दस धर्मों का स्वरूप	
उत्तम क्षमा धर्म का स्वरूप	
उत्तम आर्जव धर्म का स्वरूप	
उत्तम शौच धर्म का स्वरूप	
उत्तम सत्य धर्म का स्वरूप	
सत्यवचन के दस भेद और उनका स्वरूप	
संयम धर्म का स्वरूप	
संयम के दो भेद	
उपेक्षासंयम का लक्षण	
अपहृतसंयम के तीन भेद	
पांच समितियों का स्वरूप	
आठ शुद्धियों का स्वरूप	
तपधर्म का स्वरूप	
त्यागधर्म का स्वरूप	
आकिंचन्यधर्म का स्वरूप	
ब्रह्मचर्यधर्म का स्वरूप	
शील के अठारह हजार भेद	
शूर का स्वरूप	
दस धर्मों के कथन का उपसंहार	

विषय	गाथा क्रमांक
हिंसामूलक आरम्भ का निषेध	
जहां हिंसा है वहां धर्म नहीं है।	
दसधर्मों का माहात्म्य	
चार गाथाओं से पुण्यकर्म की इच्छा का निषेध	
निःशंकित गुण का कथन	
निःकांक्षित गुण का कथन	
निर्विकित्सा का कथन	
अमूढदृष्टि का का कथन	
उपगूहन का कथन	
वात्सल्यगुण का कथन	
प्रभावना गुण का कथन	
निःशंकित आदि गुण किसके होते हैं	
धर्म को जानना और जानकर भी पालना कठिन है।	
स्त्रीपुत्रादिकी तरह यदि मनुष्य धर्म से प्रेम करे तो सुखप्राप्ति सुलभ है।	
धर्म के बिना लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती	
धर्मात्मा जीव का आचरण कैसा होता है।	
धर्म का माहात्म्य	
धर्मरहित की निन्दा	
तप के बारह भेद	
अनशन तपका स्वरूप	
एकभक्त, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश आदि स्वरूप	
उपवास के दिन आरम्भ का निषेध	
अवमौदर्य तप का स्वरूप	
कीर्ति आदि के लिये अवमौदर्य करने का निषेध	
वृत्ति परिसंख्यान तप का स्वरूप	
रसपरित्याग तप का स्वरूप	
विविक्तशयासन स्वरूप	
साधु के योग्य वसतिका स्वरूप	
वसतिका के उद्गमादि दोषों का विवेचन	

विषय	गाथा क्रमांक
कायव्लेश तप का स्वरूप	
प्रायश्चित्त तप का स्वरूप	
प्रायश्चित्त का शब्दार्थ	
प्रायश्चित्त के दस भेदों का कथन	
आलोचना के दस दोष	
आलोचना करने पर गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त को पालने का विधान	
विनय के पांचभेद	
पांचों भेदों का स्वरूप	
उपचार विनय का स्वरूप	
वैयावृत्य तप का स्वरूप	
स्वाध्याय तप का स्वरूप	
लौकिक फलकी इच्छा से स्वाध्याय करना निष्फल है।	
कामशास्त्रादि के स्वाध्याय का निषेध	
जो आत्मा को जानता है वह शास्त्र को जानता है।	
व्युत्सर्ग तप का स्वरूप	
देहपोषक मुनि के कायोत्सर्ग तप नहीं हो सकता	
जीवन पर्यन्त किये गये कायोत्सर्ग के तीन भेद और उनका स्वरूप	
कुछ समय के लिये किये गये कायोत्सर्ग के दो भेदों का स्वरूप	
कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष	
ध्यान का स्वरूप और भेद	
आर्तध्यान और रौद्रध्यान	
धर्मध्यान और शुक्लध्यान	
आर्तध्यान के चार भेदों का विवेचन	
रौद्रध्यान के चार भेदों का विवेचन	
आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर	
धर्मध्यान करने का उपदेश	
धर्म का स्वरूप	
धर्मध्यान किसके होता है।	
धर्मध्यान की श्रेष्ठता	
धर्मध्यान के चार भेदों का स्वरूप	

विषय**गाथा क्रमांक**

धर्मध्यान के दस भेदों का स्वरूप
 पदस्थ ध्यान का स्वरूप
 रूपस्थ ध्यान का स्वरूप
 रूपातीत ध्यान का स्वरूप
 शुक्लध्यान का लक्षण
 पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान का स्वरूप
 तथा कार्य
 एकत्ववितर्क शुक्लध्यान का स्वरूप
 सूक्ष्मक्रिया शुक्लध्यान का स्वरूप
 व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान का स्वरूप
 परमध्यान की प्रशंसा तथा महत्त्व
 तर्पों के कथन का उपसंहार
 ग्रन्थकार के द्वारा ग्रन्थरचना का उद्देश्य कथन
 बारह अनुप्रेक्षाओं का माहात्म्य
 अन्तिम मंगल

गाथानुक्रमणिका

पृष्ठ क्र. ८१-८९



I N T R O D U C T I O N

Barasanuvekkha of Swami Kartikeya is a very popular Shauraseni Prakrit Text that has been an inspiring instrument for those who intend to adopt the spiritual path. This is the reason as to why its hundreds of manuscripts are found in different Shastra Bhandaras. Dr. Velankar enumerated some of them in his Jinaratnakosha. The first edition of the Text along with Hindi commentary of Jayacandra was published by Jain Hindi Granth Ratnakar Karyalaya, Bombay in 1904 A.D. Then the Bharatiya Jain Siddhanta Prakashini Sanstha, Calcutta published its original text in 1920 A.D. After that so many editions have been published so far from different corners. Dr. Upadhye edited it on the basis of six manuscripts and got it published from Shri Parama Shruta Prabhavaka Mandala, Agas in 1959. Since then so many editions have come out along with the Sanskrit commentary of Shubhacandra and Hindi commentary of Pt. Kailashachandra Shastri.

Original form of Anupreksha

The conception of Anuvekkha or Anupreksha is very important concept which deals with Svadhyaya of the early Prakrit literature. The term Anupreksha of Sanskrit has version in Prakrit texts, viz. Anuppeha, Anupeha, Anuveha, Anuppekkha, Anupekkha, Anuvekkha. All these words connote to ponder something or to reflect repeatedly. The term Bhavana is also used in some texts in various contexts in synonymical manner. The concept of Anupreksha paves the way to ponder the twelve subjects with the view to get rid of the grip of desires and attain liberation from all karmas.

The earliest reference to the concept of Anupreksha can be traced out in the Prakrit literature itself (Uttara.5.30,34). The first and foremost reference in connection with this concept is found in the Thananga which reveals four Dhyanas, i.e. Arta, Raudra, Dharma, and Sukladhyana. The third, namely Dharmadhyana is of four kinds possessing four characteristics supported by four propositions, 1) Vayana (reading and reciting), 2) Padipuccha (questining), 3) Pariyattana

(memorising), and 4) Anuppeha (reflecting or meditation). Anuppeha is to be attended by 1) Eganuppeha (oneness), ii) Aniccanuppeha (transient), iii) Asravanuppeha (flow of karmas), and iv) Samsaranuppeha (cycle of birth). Likewise the Sukladhyana is also of four kinds with four characteristics supported by four propositions and attended by four anuppehas, viz. i) Anantavattiya Anuppeha, 2) Viparinama Anuppeha, 3) Asubhanuppeha, and Avayanuppeha.

It is remarkable that the Anuppeha, first as an attendant clause of meditation in the earliest Prakrit literature and then has become a part and parcel of religious study, has grown in popularity in Jain literature to the latest times. The earlier conceptions of Jain ideology with special reference to the Sramanic or ascetic poetics, were stratified and enumerated in twelve Anupreksas. Consequently the conception of Anupreksa developed with the ideas such as Samsaranupreksa to the elaboration of Jain dogmatical details, e.g. Asravanupreksa and Lokanupreksa.

Besides, individual treatises and substantial expositions, the Vinaya for monks and laymen, narrative tales and even stylistic poetics have been given place in them with a view to expose the nature of Anupreksas. The term Bhavana is also used though not as direct synonym for Anupreksa. Acarya Kundakunda uses the word Bhavana incidently in concluding his exposition to Asucitva. Swami Kartikeya also uses the term Bhavana and Anupreksa in Gathas No. 87 and 94. However, the term Anupreksa seems to have been preferred by all philosophers of Jainism.

Thus the conception of Anupreksa served a good theme for Jain religious poetry too of which the growth, propagation and elaboration of Jain ideology could develop in the later stage as an important part of Prakrit literature including Apabhramsa and the literature of Sanskrit, Kannada, Tamil, Marathi, Gujarati, Hindi and other Indian languages.

Etymology and Meaning

Despite the various spellings viz. Anuppeha, Anupeha, Anuveha, Anuppekkha, Anupekkha, Anuvekkha, the Sanskrit version of the same is Anupreksa from the root lks with the proposition Anu and Pra, meaning to ponder, to reflect, to think repeatedly, also Cintana, Bhavana and Svvyadhyaya. I adopted the word Anuvekkha in the present edition. Anuvekkha or Anupreksa has also been defined as Jinavarapavayana. Tattvarthasutra interpretes Anupreksa as pondering on the nature of the body and other

substances. Swami Kartikeya says that it is pondering on right principles (Gatha, 97). Siddhasena defines as "this repeated pondering develops the suited mental states" (Tattarthabhasyatika, 2.181). Nemicandra defines the same as Cintanika or reflecting that covers right understanding with visualization with the concentrated mind. Subhacandra in his commentary on Swami Kartikeyanupreksa has elaborated the scope of Anupreksas and said that they reflect on various principles and this reflection involves the constant alertness of the nature of things. In fact, Anupreksas are nothing but the reflections on right principles through the Dhyana for the destruction of Karmas to achieve the highest bliss or human life.

Origion , Development and Scope of Anupreksas

The rudiments of the conception of Anupreksa can be traced out in both, the Rigvedic period and Indus culture. The Yoga pose in a naked position of the Tirthankara (Rsabhadeva?) found in the Mohenjodaro-Hadappa and Lohanipur sites appears to be the most ancient Kayotsarga pose of the Anupreksana or Cintana in connection with the conception of Anupreksa in Jainism. The concept can also be found in Buddhism in the form of Anussati.

Anupreksas twelve in number embrace a wide range of topics and cover a number of principles and cardinal teachings of Jainism. Their position in Jain ideology refers to the shedding of Karmas i.e., Nirjara is rendered possible through penance which is two fold external and internal. Latter is of six kinds of which Sajjhaya or the study of the sacred lore is the fourth and Jnana-concentration or meditation is fifth. According to the Tattvarthasutra (9.25), the study of the sacred lore is of five kinds Vayana etc. The Thananga reveals four Dhyanas and the Dharmadhyana has four Lakkhanas and the fourth is Anuppeha. Anuppeha reflects on the four types of Anupreksas and the Sukladhyana reflects on another four subjects of Anupreksa. It appears that Anupreksa has been closely associated with both these Dhyanas and Dharmadhyana has contributed the concept which was later elaborated by the commentators and authors on the subject. Sivarya in his Bhagawati Aradhana, while describing the Dharmadhyana, thinks nearly in similar terms. According to him, Anupreksa is the last Alambana of it under its fourth variety or stage, viz. Samsthanavicaya which consists of meditation on the constitution of the universe as conceived in Jainism (Gathas, 1851-69).

According to the Aupapatikasutra and the Uttaradhyanasutra, the internal penance is of six kinds, the fourth being Swadhyaya and the fifth being Dhyana which

is of five kinds Vayana etc. Anuppeha and Dhammakaha have been referred as alternatives in the Thananga and Ovavaiya- sutta but they have been seperately enumerated. The Satkhandagama in one of the Sutras explains Srutajnana-upayoga with eight kinds and the Dhavala gives detailed interpretation of Anupreksas. The Samavayanga and Avasyakasutra do not submit the list of twelve anupreksas (Suttagama, vol.1,p.325; vol.2,p.1168). In the Prasna-vyakaranangasutra, the five Samvaradvaras are mentioned but they are unlike of the Tattvarthasutra in the direct name of Anupreksas. They are in the form of Bhavanas. The list of the Snupreksas as mentioned in the Mahanisithasutra may be compared with that in the Tattvarthasutra is wanting the Sucitva and Tattvacintana Bhavana seems to be an additional. Any way, the twelfold Anupreksas are mentioned. The Maranasamahi consists of the list of twelve Bhavanas (Prakirnaka Dasakam, p. 135).

The object of these Bhavanas is to develop the detachment from the worldly affairs and to create the Vairagya or detachment and spirit of renunciation (Kartikeya. Gathas Nos. 569-688). These twelve Bhavanas are elaborated as Anupreksas in different Canonical texts, passages and contexts despite the connotation as Anupreksa is not used. The essence seems to be just the same as Anupreksas. The rudiments of various Anupreksas in different earlier Prakrit texts, can be of course traced out in early literature. The concepts of Anitya, Asarana, Samsara, Asuci, Ekatva, Anyatva, Loka and Dharma are found in early texts. The twelve Anupreksas on block are not mentioned there. They are found in potent form and it appears that the same has been elaborated to twelfold enumeration. They envisage the complete annihilation of Karmas through Swadhyaya and Dharma and Sukladhyana which gave birth to composition of the different treatises forming the part of ascetic poetry on the one hand and glorification of Jiva doctrine which are valuable compadium, representing repositories of great ethical sermons on the other hand.

The exhaustive commentaries by noble authors of Tattvarthasutra, Rajavartika, Barasa-anuvekkha, Mulacara, Bhagawati Aradhana, Kartikeyanupreksa, Bhasyanusarini, Tattvartha-slokavartika, Tattvarthavrtti, Yogapradipadhikara, Yogasastra, , Prashamaratiprakarana, Acarasara, Pravacanasaroddhara and other texts have given the exastive description of Anupreksas.

Acarya Kartikeya describes the twelve Anupreksas as follows in his Barasanuvekkha or Kattigejanuppekkha (Gatha, 2-3)- 1) Adhruva or Anitya (the

transient character of the things), 2) Asarana (helplesnes or shelterlessness), 3) Samsara (cycle of rebirth), 4) Ekatva (loneliness), 5) Anyatva (seperateness of self and non-self), 6) Asucitva (impurity of the body), 7) Asrava (the inflow of Karmas), 8) Sambara (stoppage of Karmas), 9) Nirjara (shedding of Karmas), 10) Loka (constitution of the universe), 11) Bodhidurlabha (difficulty of attaining enlightenment), and 12) Dharmanupreksa (law expounded by the Jinas). The Tattvarthasutra (9.7), Barasanuvekkha (Gatha 2), Mulacara (692), Rajavartika (1.7.14), Bhagawati Aradhana (1776 &1778) submit somewhat different order of Anupreksas as follows: Adhruva, Asarana, Ekatva, Anyatva, Samsara, Loka, Asucitva, Asrava, Samvaa, Nirjara, Dharma, and Bodhi.

On observation of the order we find that Ekatva has been placed in lieu of Samsara of Kartikeyanupreksa and Samsara has been placed in lieu of Ekatva, Loka is placed in the order of 6th number and Dharma is placed first and Bodhidurlabha later. However, the connotation of each of the Anupreksa has been preserved through the order of enumeration is changed. The purpose and the ultimate aims and objectives of the above described Anupreksa are the stoppage of the influx of Karmas (Samvara) and stoppage of Karmas (Nirjara).

Here soul develop the virtues by contemplating one or another Anupreksa whereby we are able to realise the nature of worldly objects and their relation so that one directs his attention from outward insight towards inward insight. The attachment is sacrificed in lieu of religious life. This helps protecting soul from the miseries of Samsara and so leads the soul to liberation. Anupreksa directs us to know lthe relation between self land universe fully. Thus human soul is able to acquire to equanimity. Attachment and aversion are subjugated. The self is realised in the right sense with renunciation for the materialism. With good deeds the circle of life and death can be avoided. Result of Karmas follows acording to the nature of the Karmas. Soul with Karmas always needs Nirjara for the attainment of its purified stage and therefore authors of the Anupreksas say that Bhavya souls should practice these Anupreksas for the purification of their souls.

The concept of Anupreksa in Buddhism

The concept of Anupreksa can be traced out of the whole Pali Tipitaka and other Buddhist literature. The There-Therigathas may be especially mentioned in this regard

which are nothing but the victory songs uttered by Bhikkhus and Bhikunis while practicing the Dhamma and Vinaya simultaneously. These Gathas reflect the thinking of monks and nuns on the realization of nature and scope of Samsara and self which is the central theme of Anupreksha too. Another point may also be noted that both Jainism and Buddhism have fundamentally faith in the transient nature of substance.

1) Anityanupreksha

Anityanupreksha has been defined in detail in Jainism and Buddhism practically with each and every principle with their somewhat different views. Jainism terms Anitya only to the Paryayas or modes according to the Vyavaharanaya point of view and further mentions the substance as Nitya according to Niscayanaya point of view, whereas Dhammapada defines the substance totally Anitya (not permanent):

**Sabbe samkhara anicca'ti yada pannaya pasati.
Atha nibbindati dukkhe, esa maggo visuddhiya. 277**

The conception of Anuvicca appears to bear the similar connotation of Anupreksha. It connotes the pondering or contemplating or reflection of thoughts. (Majjhima. 1, 301-361). Likewise, the word "Anapekkhati" (Anguttara, III, 23) has the meaning to consider carefully. The word "Anpekkhino" found in the Dhammapada (Gatha 346-347) is used for a wise person who is free from desire, e.g. the bounds (of wife, wealth and son) or meditates for giving up of the desires or attachment of bad Karmas. Another word Anusati may also be compared with the concept of Anupreksha. It is used for remembrance, recollection, thinking of, mindfulness etc.

There is another word Anussati in Buddhism connoting remembrance, recollection, thinking of, mindfulness that can also be compared with the conception of Anupreksha. Originally it is of six types, viz. Buddha, Dhamma, Sangha, Sila, Caga, and Devatanusati (Digha. iii, 250, 280). The concept of Anusati can be said as a part and parcel of Buddhist meditation that is to be practised for the destruction of Trsna and Avijja etc. for the attainment of Nibbana. This conception has been afterwards elaborated in various developmental stages of Buddhism and finally four Anusatis are added to six and thus they have been enumerated to ten. These additional four Anusatis are as follows: Anapana, Marana, Kayagata, and Upasamanusati. The subjects of all

these ten types are very familiar to both the religions prescribed for the spiritual development.

Subject matter

Let us have a brief description of subject matter of the Barasanuvekkha of Kartikeya along with a comparative view with that of Buddhism. Both the religions accept that it is mainly due to the passions that the soul or Citta assimilates Karma. Jainism is of view that anger, pride, deception, and greed must be counteracted by cultivating the ten best virtues (Dasadharmas). To cultivate necessary religious attitude one should constantly reflect on twelve religious topics, e.g. Anuprekshas as follows:

1) Anityanupreksha

This is the first Anupreksha which deals with the nature of substance. According to Kartikeya, whatever originates is necessarily destroyed. There is nothing eternal so far as modes are concerned. Birth, youth and wealth are accompanied respectively by death, old age, and loss or ruin (Gatha, 4-5). Knowing this one should remove attachment from one's mind whereby the highest bliss is attained (Gatha, 22).

The conception of Anityanupreksha can be seen in early Buddhism which glances towards the Samsara with three fundamental views. They are 1) Anitya- transitory nature, 2) Dukkha - suffering, and 3) Anatma- not of mine or non-soul. These three views are called Trilaksanas. The Nibbana can not be achieved without pondering and perceiving these three views through Vipasyana (Dhammapada, 277). The famous saying in Buddhism is " **sabbe sankhara anicca**" which means " the real ultimate criterion of suffering is transitoriness (Suttanti.4.1). Thera-Therigatha and other early Pali texts explain clearly this view.

2) Asarananupreksha

The concept of Asaranupreksha denotes that no one can save the beings from death. All including Hari, Hara, Brahma, Indra etc. are subject to death. There is no rescue from death as in the case of deer which has come under a paw of lion. No God, spell ritual or Ksetrapala can save a man from death; none however, strong, fierce or well-guarded can escape from death. It is only blind worship and pervert belief that

makes one seek the shelter of planets, Bhuta, Pisaca, Yogini and Yaksa. Everybody has to die at the termination of Ayu. The Atman, which is constituted of right faith, right knowledge and right conduct is the only Sharana (shelter) and it should be duly tempered with the qualities like Ksama (forebearance) etc. In brief only right Sarana is described in "**Damsana-nana-carittam**" in Jainism. In this context, the theory of creation of the universe by God has also been discarded. (Karti. Gathas, 2323-31.).

This concept has been dealt with in Buddhism in the concept of Buddhanusati where the stage of "**Buddham saranam gacchami**" appears to be the similar. Here the Buddha connotes the meaning of Nana, dassana that symbolizes the concept of Dhammasarana and Carittam symbolizes the conduct of the Sangha. The Dhamma can be achieved by the Sadhaka by following the Sila and Samadhi. This concept is also found in Jainism which makes free from any divine theory or supernatural concept like God etc. This concept of God has already been denied in the Anupreksha (Karti. 23). The Sadhaka in both the religions is expected to be "**Atta dipo bhava**" and not to accept the refuge in the shade of the "Isvara". This concept bestows the impression that the soul has immense power to reach the supreme purified stage even without the help of others whatsoever. Whatever the changes we perceive in the substances are the result of the Nimitta and Upadana that are the real causes of creation and destruction of the substance or the world.

3) Samsaranupreksha

Transmigration of soul is called Samsara. This transmigration is the effect of perverted belief and passions. On account of sins, soul suffers the miseries of hell. In subhuman birth, there are physical tortures and sufferings. In human births also there are manifold miseries and only few earn merits by the persons having sammaditthi (right-view thought). Even merited do not achieve all of their aspirations and wants. They are also subject to privations and mishaps. Ups and downs and prosperity and adversity are the karma products. Even devas are the subject to manifold sorrows. The samsara is fivefold: every moment the soul is subjected to and gets release from various karmic matter. There is hardly any spot in the universe where it is not born and has not died many a times. During the range of beginningless time the soul has suffered from many a birth and death due to karmic attachment. Hence

one should realize the nature of the samsara and he should meditate on atman so that he would be absolved to the karmic effect and put an end to the birth and death. (Karti. 32-73).

The concept of Samsaranupreksha can be observed in Buddhism in the root cause of sorrow or Dukkha. The existence of Dukkha is the very reason that appears to have been accepted in the concept of Samsara while describing the soul and its transmigrations. To the Buddha it was not the question of escaping from suffering but to conquer it as he had expressed in his first noble Truth (Dukkhasatya). The Visuddhimagga explains the concept of Samsara. The Dhammapada advances exposition of Samsara by stating "**anekajatisamsaram sandhavisam anibbisam**" (Gatha, 153). It appears that the conception of Samsara has also been dealt in the similar spirit by the Theras and the Theris (Thera.17,215,455-56,378,1095; Theri.26 etc.).

4) Ekatva and 5) Anyatva Anupreksas

One is all alone while being born, while growing while suffering and while experiencing the fruits of one's karmas. No one can share the fruits of the Karmas of another. Religion of Ksama etc. is the good friend to be free from sorrow and sufferings. Thus one should realize the self as lonely and determine what is fit to be relinquished and what is not. (Karti. 74-79).

One should realize his self as separate from another. No attachment is to be developed for others, when self (Atman) is realized as separate from body etc. (Karti. 80-82).

The conception of Ekatva and Anyatva has the correlations with Anapanasati in Buddhism. Besides these, there are counterparts of Buddhism which clarify the concept in detail. The Buddha's dialogue with Cunda gives the similar details of this concept ((MN.1, p.301). The Dhammapada also clarifies the concept by stating "**attana'va katam papam attana samkkilissati. Attana akatam papam attana va visunnati**" (Gatha, 165). As regards the conception of soul in Jainism and Buddhism, Jainism agrees unanimously with the view of existence of soul, whereas Buddhism got developed the theory from Anatmavada to Niratmavada in different connotations and

perspectives realizing the concept of rebirth and Karma and Jnana and Darsana attached with Citta or Vijnana.

6) Asucitvanupreksha

This Anupreksha describes about the nature of the body which is always full of all that is impure, rotten and stinking and even the pure and fragrant stuff becomes detestible by the contact of the body. However, if the human nature that he develops the desire for such impure body, ordinarily people should be disgusted with it, but on the contrary they are attached to it and want to derive pleasure from it. One should relinquish attachment for the body and engross oneself in own Atman (Karti. 83-86). The conception has been exposed further stating that the body is impure and pleasure thereof are all futile and delusive in Jainism.

In Buddhism too the description of the body is presented with the similar phraseology in Majjimanikaya(3.2.9), Visuddhimagga (1.6.174-75), Theragatha (279, 19,493-94567-69,1153-56), Therigatha (140-144, 252-71), Bodhicaryavatara (Verses, 62-63) and other texts. The fundamental object of this Anupreksha in both the religions is that the Sadhaka should be detached from the attachment of the body as the attachment is the main cause of influx of the Asubha Karmas.

7) Asravanupreksha

Asrava means influx of Karmas committed by body, speech and mind (Ts.6.1-2). This can be said a cause for getting entry of Karmas into self as the sea becomes full of water daily by the flood of rivers (Rajavartika, 6.2.4). It is variously divided. The main division of it, can be enumerated into two, 1) Drvyasrava, and 2) Bhavasrava.

This conception in Jainism has been discussed at length practically in each and every Jain text directly or indirectly. Kartikeya points out that the activities of mind, speech and body causing stir in the spacepoints of the soul with or without Moha lead to Karmic influx developing into Mithyatva etc. There are two types of influx, Punya or merit, and Papa or demerit. Punya i.e. lower degree of passions which is represented by virtues, sweet words, and forgiveness even in the face of provocation. Papa is acute passion, which is represented by egotism, fault finding and sustained

hatred etc. There Karmic influx can be checked by any one who avoids infatuatory and deluding Bhavas, moods or temperaments and by engrossing in Upasama. Such is the nature of Asravanupreksha (Karti. 98-94).

Likewise the concept of Asrava is very common in Buddhism. The word Asrava itself connotes the same meaning as we have in Jainism. Its exposition by way of division of the nature of being appears to be the same as depicted in Jain literature with slight difference in terminology or similies. In Buddhism, the Asrava is described into four types, viz. 1) Kamasrva, 2) Bhavasrava, 3) Drsti-asrava, and 4) Avidyasrva. The Kusalamula and Akusalamula of Buddhism are similar to Punya and Papa respectively of Jainism. The passions of mind, speech and body are recognised as the main causes of Asrava in both the religions. The Asrava and its annihilation seems to be used in Theragatha with the similar connotation (G. No. 74,116120,122,198). Even Theries also say that they have ended all the Asravas and reached to the position of Arhat, not subject to rebirth.

8) Samvaranupreksha

The concept of Samvara is to prevent the influx of new Karmas and the concept of Nirjara is eradication of accumulated Karmas. The Samvara and Nirjara are just opposite words to Asrava and Bandha. The being first commits the deeds than the result either will be felt immediately or in due course when it will ripe. If some one intends to get rid of then the Sadhaka is expected to prevent first the influx of new Karmas then eradicate the previous Karmas by way of right penance (Nirjara). This philosophy appears to become a part and parcel of both Jainim and Buddhism.

Right faith, observance of vow, subjugation of passions and absence of bad activities of mind, speech and body are called Samvara or stoppage of the Karmic influx. The causes of Samvara are Gupti, Samiti, Dharma, Anupreksha, Parisahajaya, and excellent Caritra. Gupti means control of mind, speech and body; Samiti means carefulness or absence of negligence; Dharma is characterised by compassion; Anupreksha represented by pondering on principles; Parisahajaya ungrudgingly putting up with various troubles like hunger etc.; best conduct or discipline is self meditation, free from all attachment and aversion. One who abstains from pleasure or

senses and guards oneself fully against all temptations stops Karmic influx and curtails the journey of Samvara (Karti. 95--101).

In Buddhism too the conception seems to have been accepted in toto and is called the Dharmas which are also called Kusalakarmapatha. The ten vows of Buddhism (Panatipatairati, Adinnadanavirati, Kamesumicchacaravirati, Musavadavirati, Pisanavagvirati, Parusavagvirati, Samphalapavirati, Anbhidya (alobha), Avyapada (adosa), and Samyagdrsti (Amoha or prjna) cover the conception of Samvara in toto.

The word Samvarattam i.e. equanimity and Samma are used many times in Jainism and Buddhism. The phrase Samma is also used very commonly in both the literatures in the sense of right. The attainment of Sammaditthi stage is the result of following the Sammaditthi which can not be obtained without Samvara and Nirjara e.g. **Asrava-nirodha-samvarah** (TS. 9.1). The term Samvara has been directly used in Buddhism in the context of fivefold Samvara, viz. Patimokkha, Smrti, Jnana, Ksanti, and Viryasamvaa (Sutta. 56.4; Visuddhi. 1.13 etc.).

In this context, one will have to undergo the various types of austerities and tolerance of Parishahas. The Jain and Buddhist monks and nuns have already expressed their self experiences and bore all sorts of the internal and external Upasargas. The rules and the regulations (Patimokkha) of Vinaya are subjected to these elements which represent the Samvara.

9) Nirjaranupreksha

Eradication of Karmas is possible through the practice of twelvefold penance without any remunerative attachment (Nidana) for one who is not vain, who is detached and who is endowed with knowledge. The various Karmas come into operation, give their fruit and then drop out: that it is Nirjara. It is of two kinds: 1) Karmas fall off after being ripe or mature, according to schedule; and 2) they can be made to fall off prematurely by practice of penances. The former is normal in all the grades of life, while later belongs to those who undertake religious practices. In case of monks, Nirjara increases more and more on the stage of the ladder of Gunasthanas as one progresses in spiritual quiet and penances, especially, by twofold meditation,

Dharma and Sukla Dhyana. Plenty of Karma is eradicated by putting up with abuses, illtreatment and various troubles by subjugating of senses and passions, by realizing one's defects and appreciating virtues of others, and by repeatedly concentrating oneself on one's tman which is a pure and eternal embodiment of faith, knowledge, and conduct. Thus alone life becomes fruitful, merits increase and the highest happiness is attained (Karti. 102-114).

It appears that object of this Anupreksha is the complete destruction of Karmas as the Karmas are responsible for the sufferings of the beings as a whole and when one is desirous to annihilate the suffering he is bound to destroy the Karmas which are responsible to create the suffering (ibid.112-114).

In Buddhism also the concept of Nirjara is very common. The Arahantavagga, Buddhavagga and other Vaggas of the Dhamma-pada and the Theragatha and Therigatha clarify the concept of Nirjara in Buddhism.

10) Lokanupreksha

Lokanupreksha is dealt with in the Kartikeyanupreksha through the Gathas from 115 to 283.

The Loka or world consists of Jiva and Ajiva, the main elements of substances and hence it is discussed at length covering all points in the Canonical and Non-canonical works. The ample subject matter is available there which is gisted as below:

Loka is situated right in the centre of infinite space; it is neither created by anybody nor supported by Hari, Hara etc. It is eternal and is subject to changes due to constituent substances undergoing modification at every moment. It consists of Dravya which is of six kinds, viz. Jiva (soul), Ajiva or Pudgala (matter), Dharma (principle of motion), Adharma (principle of rest), Akasa (space), and Kala (time). Loka has three regions- lower, central and higher. It is called Loka because various existential entities are seen in it; and at the summit of it there dwell Siddhas or liberated souls in eternity. The entire universe is replete with living beings, from Nigoda to Siddha; those having one sense are everywhere, while those having more than one sense are found in the Trasanadi, the central column of space reserved for Trasa beings. The living beings in the various grades of existence are classified and subdivided

differently from some aspect or characteristic or the other; their durations of life, heights, dimensions etc. are noted in details (Karti. 115-175).

Knowledge is the very nature of the soul. It is the Jiva which experiences pleasures and pains and comprehends the objects of senses. It is wrong to take Jiva to be the same as body. Jiva experiences the fruits of Karma in this Samsara and takes rebirths due to Karmas committed. By following three jewels, viz. Right faith, Right knowledge and Right conduct (Ratnatraya) Jiva gets liberation from Karmas and crosses the ocean of Samsara. (176-191).

Jivas are classified into three types of Atman, the Bahiratman, Antaratman, and Paramatman. The Paramatman is represented by Arhat who still possesses a body and knows everything through omniscience and the Siddha who possesses only knowledge as he has reached the highest happiness which arises out of the very nature of the soul consequent on the destruction of all the Karmas and their influences (192-199).

All the souls moving in Samsara are bound by Karmas since beginningless time. The whole universe is replete with particles of matter, subtle and gross and of manifold potencies. Matter (Pudgala) helps spirit (Jiva) in various ways by forming the body etc. Jivas too help each others. The two substances Dharma and Adharma are cooperative in movement and rest respectively for all substances. Akasa gives accommodation to all the substances. Time which marks changes in various substances is unitary in constitution (200-216).

Jiva is eternal, without beginning and end as a substance. It is endowed with manifold characteristics like infinite Jnana, Darsana, Sukha, and Virya. Here the author explains the theory of Naya in detail. Collectively speaking Naya is one; spoken from the points of view of Dravya and Paryaya, it is two-fold. The Drvyarthikanaya states reasonable the general (Samanya), without denying the particulars; while the Paryayarthikanaya states from various characteristics etc., the particulars keeping in view the generality ((231-270).

He who meditates quietly on the nature of the universe becomes a crest-jewel for the three worlds by destroying the stock of Karmas. (279-283).

The concept of Loka is also a part and parcel of Buddhism. It can be compared with Rupa in Buddhism. The Rupa is of 20 kinds which covers practically all the related elements of Loka which is comprised with sound, substance, cosmological objects, hells, heavens etc. According to Jainism, Loka consists of six Dravyas. Of these, the nature of soul in Buddhism requires the comparative study of its developmental stages from Anatmavada to Niratmavada. It believes in rebirth and Karma. The nature of Citta and Vijnana of Buddhism may be compared with that of Atman of Jainism. There is difference in connotation of Pudgala in Jainism and Buddhism. In Jainism, Pudgala means things perceived. Karma and other material objects are called Pudgala in Jainism. But in Buddhism, Pudgala is used in the sense of Atman. There was a Pudgalavadi sect in Buddhism.

There are no more references to the concept of Dharma, Adharma and Kala Dravyas in Pali literature. The Kaladravya is later on recognised in Buddhism in the form of Prajnaptimatra in the Atthasalini.

In Buddhism also the concept of heavens and hells prevails but does not tally exactly to the Lokanupreksha. However, the conception of Niraya is found and it is of eight types, viz. Niraya, Sanjiva, Kalasutra, Samghata, Jvalaraurava, Raurava, Tapan and Avici. Nirayavagga is found in the Dhammapada.

11) Bodhidurlabhanupreksha

The human life has a unique signification. It is said here that Great vows, meditation and attainment of Nirvana are possible. So one should concentrate respectfully on the cultivation of Ratnatraya. But to waste human life in the pursuit of pleasures is to burn a precious stone for ashes (284-361)

Bodhidurlabhanupreksha has also been depicted in Buddhism. The Dhammapada states "**Kicho manusapatilabhokiccham maccanam jivitam. Kiccham saddhammasavanam kicho buddhanupado (Buddhavagga, 14.4: 182).**

12) Dharmanupreksha

The person who is completely got rid of Karmas and becomes full of knowledge and vision is only bonafied to preach the religion. He is called in Jainism, Vitaraga,

Apta, Sarvajna Arhanta etc. The religion preached by him is 1) Twelvefold for layman or householders, and 2) Tenfold for monks or houseless (302-4). Dharma means the nature of things, tenfold virtues like Ksama etc., the three jewels (Ratnatraya) and protection of living beings (Ahimsa).

Swami Kumara Kartikeya has expounded with great devotion these Anupreksas with a view to comprehend the words of Jina and to restrain the fickle mind

The Author of the Barasanuvekkha

Nothing much is known about Swami Kumara Kartikeya, the author of the Barasanuvekkha. The Gathas No. 489-91 of course inform that his name was Swami Kumar. It is perhaps Shubhacandra (16th c.A.D.), the commentator who mentions the name of the author as Kartikeya along with the title Swami. He has also mentioned him as **Swamikartikeyamunih**. That means Kumara Kartikeya was a member of Jain Munisangha. Dr. Upadhye could not decide the age of the author but said that he is later than Kundakunda, Vattakera, Sivarya, Umaswati, Pujoyapada and Joindu (6th c.A.D.) and perhaps Nemicandra Siddhantacakravarti (10th c.A.D.), but before Brahmadeva (c.13th c. A.D.).

Pt. Mukhtar has fixed his date and said that Kumara need not be later than Joindu. Dr. J.P.Jain is of view that "Kumaranandi, the saint of Uchchainagar (Uccanagari Sakha) who figures in an inscription from Mathura of the year 67 (or 87-8) (Early Saka era of 66 B.C.) and therefore assigned to c. 1-21 A.D.) seems to have been another contemporary of Lohacharya. He seems to be identical with Kumaranandi whom several commentators of Kundakunda describe as a Guru of the later. Further, Kumaranandi also seems to be identical with Swami Kumara, the author of the Kartikeyanupreksa, an ancient Prakrit text. His times would be circa 20 B.C.-20 A.D." In my opinion, Dr. Jain's view is more appropriate as he may be linked up with the identification of Kumara (= Kartikeya) with Karttika or Karttikeya who was hit by king Kraunca. The Brhatkathakosa, Harisenakathakosa and other Kathakiosas have also given his biography.

The present edition

The present edition is based on the edition of Dr. A.N.Upadhye published by

Shri Parama-Shruta Prabhavaka Mandal, Shrimad Rajchandra Ashrama, Agas in 1997 on the following manuscripts:

- 1) **Ba.** This is Paper manuscript deposited in the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona
- 2) **La.** This is Paper manuscript belonging to Laksmisen Bhattaraka Math of Kolhapur
- 3) **Ma.** This Belongs to the Terapanthi Mandira, Bombay.
- 4) **Sa.** This is a paper Ms. from Shri Digambar JainMandira Lucknow
- 5) **Ga.** This is a paper Ms. from the Digambara Jain Mandira, Chaukapurivali ali, Lucknow
- 6) **Pa.** This is a paper Ms. from the Bhandarakar Oriental Institute, Poona

I have also consulted some more manuscripts but they appeared to be the copies of this or that manuscript used by Dr. Upadhye.

At the end it is my pleasant duty to acknowledge the inspiration and guidance received from His Holiness Jagadguru Karmayogi Swastishri Charukirti Bhattarak Swamiji, the Chairman, Shrutakevali Education Trust, Shravanabelagola who has given me an opportunity to work under his noble supervision and profound scholarship.

We are sorry, the diacritical marks could not be used here in the introduction. The inconvenience caused is highly regretted.

It is with gratitude that I record my sincere appreciation of all the assistance I received from the previous editions and their editors particularly the edition made by Dr. A.N. Upadhye and his introduction during my present edition of the Barsanuvekkha. I am also grateful to my wife Dr. Smt. Pushpalata Jain for her valuable suggestions and assistance in various ways.

Permanent Residence:

New Extension Area,
Near Kasturba Library,
Sadar, Nagpur - 440001
Phone : 0712-2541726
Mobile : 09423678273
E-mail : drbcjain@hotmail.com
Dated : 28.02.08

Professor Bhagchandra Jain Bhaskar"

Joint Director
National Institute of Prakrit Studies
and Research
Mysore University, Shravanabelagola
District-Hassan, Karnataka

उपर-थापना

स्वामी कुमार कार्तिकेय का बारसाणुवेक्खा या कत्तिगेयाणुप्पेक्खा एक लोकप्रिय शौरसेनी प्राकृत ग्रन्थ है जो साधुओं और श्रावकों के लिए आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत बना रहा है। पाठक इसे कार्तिकेयानुप्रेक्षा के नाम से अधिक जानते हैं। लोकप्रियता का प्रमाण यह है कि इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियां मन्दिरों और भण्डारों में बहुत अधिक मिलती हैं। जिनरत्नकोश में डॉ. वेलंकर ने इसका विवरण दिया है। श्री पन्नालाल बाकलीवाल ने जयचन्द्र की हिन्दी टीका और संस्कृत छाया सहित जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई से सन् १९०४ में प्रकाशित की थी और फिर बिना संस्कृत छाया के भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिणी संस्था कलकत्ता से सन् १९२० में और हिन्दी अनुवाद सहित महेन्द्र कुमार जैन मारोठ (राजस्थान) ने सन् १९५० में प्रकाशित किया था। इसके बाद इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए। प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये ने अनेक पाण्डुलिपियों के आधार पर इसका सम्पादन किया और शुभचन्द्र की संस्कृत टीका तथा पण्डित कैलाश चन्द्र शास्त्री की हिन्दी टीका के साथ श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल आगास से ई. सन् १९५९ में प्रकाशित किया। डॉ. उपाध्ये ने उसकी विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी है।

अनुप्रेक्षा का तात्पर्य और क्षेत्र

अनुप्रेक्षा का वर्णन किसी न किसी रूप में सभी अंगोपांग साहित्य में उपलब्ध होता है। ठाणांग (सुत्तागम, भाग १, पृ. २२४) में धर्मध्यान और शुक्लध्यान के सन्दर्भ में आठ भावनाओं का और औपपातिक सूत्र (३१) में चार भावनाओं का उल्लेख है। उत्तराध्ययन सूत्र (३०.३०, ३४) में स्वाध्याय के प्रसंग में अनुप्रेक्षा का विषय ग्रहीत हुआ है और षड्खण्डागम तथा धवला में आठ भावनाओं पर विचार किया गया है। महानिषीथसूत्र प्रज्ञापनासूत्र और मरणसमाधि में भी अनुप्रेक्षा पर चिन्तन हुआ है।

इनके अतिरिक्त वरांगचरित (७ वीं शती), कुवलमाला (७ वीं शती), जिनसेन का महापुराण (९ वीं शती), यशस्तिलकचम्पू (१० वीं शती), पुष्पदन्त का महापुराण (१० वीं शती), करकण्डचरित (११ वीं शती), क्षत्रचूडामणि (११ वीं शती), कुमारपाल प्रतिबोध (१२ वीं शती), प्रशमरतिप्रकरण, चारित्रसार (१० वीं शती), अमितगति श्रावकाचार (१०-११ वीं शती), आचारसार, प्रवचनसारोद्धार (१२ वीं शती), धर्माभूत (१३ वीं शती) आदि शताधिक ग्रन्थ हैं जिनमें भावनाओं का वर्णन मिलता है।

अनुप्रेक्षा का तात्पर्य है – पुनः पुनः प्रकृष्ट रूप से देखना या विचार करना (अनु+प्र+ईक्षण)। प्राकृत

में अणुपेहा, अणुपेहा, अणुपेहा, अणुपेक्खा, अणुपेक्खा, अणुपेक्खा आदि शब्द मिलते हैं जिनके अर्थ में कोई भिन्नता नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी ने “अनित्याशरण संसारैकत्वाशुच्याश्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यात-तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा” (सूत्र ९.७) लिखकर तत्त्वानुचिन्तन को अनुप्रेक्षा कहा। सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद ने उसे और स्पष्ट करके शरीरादि के स्वभाव का अनुचिन्तन बताया (९.२)। आगे उसी को मन में अभ्यास करना कहा (९.२५)। धवलाकार ने उसे श्रुतज्ञान का परिशीलन माना (९.४.१.५५)। तत्त्वार्थभाष्य टीका में सिद्धसेन ने उसे “वासना” से जोड़ा (९.२५)। उत्तरकालीन सभी आचार्यों ने अनुप्रेक्षा का सम्बन्ध मन के सतत् अभ्यास को स्वीकार किया। दशवैकालिक, योगशास्त्र आदि ग्रन्थों में भी इसी अर्थ का अनुकरण किया। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी उसे “सुतत्तर्चिन्ता अणुपेहा” (९७) कहकर इसी अर्थ को स्वीकार किया।

इन सभी आचार्यों ने अनुप्रेक्षा का सम्बन्ध चिन्तन और स्वाध्याय से जोड़ा है। इसका विश्लेषण यदि और भी किया जाये तो यों कह सकते हैं कि अनुप्रेक्षा का मूल सम्बन्ध तत्त्वचिन्तन से था जिसे स्वाध्याय, ध्यान और परिणामतः संवर के हेतु के रूप में माना जाने लगा। ललितविस्तरा में आचार्य हरिभद्र और उनके टीकाकार ने तत्त्वार्थ चिन्तन पर अधिक जोर दिया - अनुप्रेक्षा नाम तत्त्वार्थनुचिन्ता, ८२। बाद में अनुप्रेक्षा को ही ‘भावना’ की संज्ञा दी गई। सिद्धसेन ने अनुप्रेक्षा को वासना जनित संवर के लिए उपयोगी माना (का. १८१ टीका)।

स्वाध्याय को जैन परम्परा में आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत संयोजित किया गया है और उसे ज्ञान की आराधना माना गया है (स.सि. ९.२०.४३९)। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आमनाय और धर्मोपदेश ये पांच भेद स्वाध्याय के हैं (त.सू. ९.२५)। उत्तराध्ययन में आमनाय के स्थान पर परिवर्तना शब्द दिया हुआ है (३०.३४)। श्वेताम्बर परम्परा में आगे उत्तराध्ययन का ही अनुकरण अधिक हुआ है। यहां परिवर्तना का अर्थ है उपयुक्त ज्ञान का अभ्यास। आशाधर ने स्वाध्याय के इन पांचों भेदों को अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प में विभाजित कर दिया है (अन. धर्मा ७.८६)। मूलाचार में परिवर्तना के स्थान पर ‘ग्रन्थपाठ’ को संयोजित किया गया है।

अनुप्रेक्षा को ध्यान के अन्तर्गत भी रखा गया है। इस पर चिन्तन करते हुए मन एकाग्र होने लगता है। प्रशस्त ध्यान में इसे धर्मध्यान में गर्भित किया गया है। भगवती आराधना में इसके चार आलम्बनों का उल्लेख है - वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा। ठाणांग में अनुप्रेक्षाओं को दो भागों में विभाजित किया गया है - १) धर्मध्यान के अन्तर्गत एकत्व, अनित्य, अशरण और संसार भावनाओं को रखा गया है और शुक्लध्यान के अन्तर्गत अनन्तवर्तित विपरिणाम, अशुभ और अपाय भावनाओं को समाहित किया गया है

(४.१.२४७.१४०-१४२)। ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन, यशस्तिलकचम्पू आदि ग्रन्थों में भी भावनाओं का वर्णन इसी तरह उपलब्ध होता है।

अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन संवर और निर्जर के लिए किया जाता है। उनके चिन्तन से कर्मों का आश्रव रुक जाता है और उनकी निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र (९.२) और कार्तिकेयानुप्रेक्षा (का. ९६) में संवर के कारणों में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और उत्कृष्ट चारित्र की गणना की गई है। तत्त्वार्थसार (६.३.१३१) और द्रव्यसंग्रह (२.३५.६७) में क्रमशः तप और महाव्रत को संमिलितकर सात हेतुओं का उल्लेख मिलता है।

जैन परम्परा में अनुप्रेक्षा का स्थान

जैन परम्परा में अनुप्रेक्षा या भावना को कर्मक्षय का कारण और वैराग्योत्पादन का मूल हेतु के रूप में स्वीकारा गया है। आचारांगसूत्र में इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सम्यक् प्रकार से अनुप्रेक्षा करने वाला, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप रत्नत्रय का आराधक, शरीर पर ममत्त्व न रखने वाला और हिंसादिक पाप कार्यों से निवृत्त साधक नरकादि गतियों में नहीं जाता (५.२.३०.१८२-१८३)। प्रश्नव्याकरणांग में अनुप्रेक्षा को संवर रूपी वृक्ष की छाल कहा गया है जो साधक को लोभ, मोह आदि नाशक तत्त्वों से बचाता है (२.१०.७७९-८०)। औपपातिक सूत्र में इसे कर्मनिर्जरा का मुख्य हेतु माना है (सू. ३०)। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार साधक आयुर्कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की प्रकृतियों के प्रगाढ बन्धन को शिथिल करता है (२९.२३.२९४.३२०) और भावनाओं की भक्ति करते हुए मुक्ति प्राप्त करता है (१४.५२.१३२-१४३)। अनुप्रेक्षा का भावन एक ओर उत्तम क्षमादि दशधर्मों के पालन की ओर साधक को बढ़ाता है और दूसरी ओर परीषहों को सहन करने की शक्ति देता है (त.रा.९.७)। अनुप्रेक्षा का यह कार्य संवर का निमित्त बनता है (स.सि.९.७)। ज्ञानार्णव में इन अनुप्रेक्षाओं को मोक्ष रूपी प्रासाद पर चढ़ने के लिए सोपान पंक्ति माना गया है (२.६.१४.१६) और कषायाग्नि को शमनकर अज्ञानान्धकार को विगलित करने वाला ज्ञानदीपक बताया गया है (२.५५-५७)। शिवार्य ने इन द्वादशानुप्रेक्षाओं को धर्मध्यान का आधार माना है (का. १८८२)। कुमार कार्तिकेय ने उन्हें जिनागम का सार कहकर उत्तम सुख को प्राप्त करने का माध्यम माना है (का. ४८९)। आचार्य हेमचन्द्र ने भी योगशास्त्र में द्वादशानुप्रेक्षाओं का वर्णन किया है। उन्होंने भी अनुप्रेक्षा के स्थान पर भावना शब्द का प्रयोग किया है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि अनुप्रेक्षा और भावना इन दोनों शब्दों का समानार्थक प्रयोग प्रायः एक साथ मिलता है। आचारांग, उत्तराध्ययन, रयणसार आदि ग्रन्थों में दोनों शब्द मिलते हैं पर तत्त्वार्थसूत्र और उसके टीका ग्रन्थों तथा भगवदी आराहणा, बारसा अणुवेक्खा, कट्टिगोयाणुवेक्खा आदि ग्रन्थों में अनुप्रेक्षा शब्द

का प्रयोग अधिक हुआ है। उत्तरकाल में अनुप्रेक्षा के स्थान पर 'भावना' शब्द का प्रयोग विविध सन्दर्भों में होने लगा। प्रश्नव्याकरण और ज्ञानार्णव में भावना शब्द का प्रयोग हुआ है। रयणसार में दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है पर अनुप्रेक्षा शब्द की प्रधानता दिखाई देती है। अभयदेव के शिष्य मलधारी हेमचन्द्र की भवभावना (१२ वीं शती) भी उल्लेखनीय है जो ५३१ गाथाओं में लिखी गई है।

अनुप्रेक्षा: प्रकार और स्वरूप

साधारणतः अनुप्रेक्षा के बारह प्रकारों का निर्देश हुआ है। पर ठाणांग (४.१.२४७, १४०-१४२) में आठ भेद हैं - चार धर्मध्यान और चार शुक्लध्यान की भावनाएं। उववाइयसुत्त में भी भावनाओं के आठ भेदों का उल्लेख है (२०.१४४-१४८) अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अशुभ, अपाय, अनन्तवर्तित और विपरिणाम। इसके बाद तत्त्वार्थसूत्र में उनकी संख्या बारह हो गई - अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म स्वाख्यात। उत्तरकालीन सभी ग्रन्थों ने इन्हीं बारह भावनाओं का अनुशरण किया है पर उनके क्रम में थोड़ा अन्तर हुआ है। उदाहरणार्थ - भगवती आराधना में यह क्रम इस प्रकार है - अधुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ। यह क्रम कुन्दकुन्दाचार्य के बारसाणुवेक्खा तथा मूलाचार पर आधारित है। तत्त्वार्थसूत्र का अनुशरण उसके सभी टीकाकारों तथा आशाधर, शुभचन्द्र, अमितगति, और स्वामी कीर्तिकेय ने किया है।

ठाणांग में प्रथमतः धर्मध्यान के चार भेद (वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टना और अणुप्पेहा) और फिर चार उनकी सहयोगी अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख है - एकत्व, अनित्य, अशरण और संसार। इसी तरह शुक्लध्यान की चार सहयोगी अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है - अणतवत्तिय, विपरिणाम, अशुभ और अवाय (४.१.२४७, १४०-१४२)। आचारांग में स्पष्टतः वर्णन नहीं दिखाई देता है पर नरकादि गतियों में जाने से बचाने वाले उपायों में अनुप्रेक्षा की गणना हुई है। वैसे संसार, अशरणता, शरीर की नश्वरता, एकत्व आदि भावनाओं का वर्णन मिलता है (५.२.२०; २.१.३ आदि)। औपपातिकसूत्र ने ठाणांग का ही अनुकरण किया है (२०.८.१३९; २०.१४५-१४८)। दशवैकालिक में तप के अन्तर्गत उन्हें समाहित किया गया है (१.१.५) और उत्तराध्ययन में स्वाध्याय तप के अन्तर्गत रखकर जीव की अशरणता, संसार की अनित्यता, एकत्व, काय अशुचि, धर्म, बोधिदुर्लभ और लोक अनुप्रेक्षा का वर्णन हुआ है (३०.३०.३४)। इसी तरह महानिशीथ सूत्र, नायाधम्मकहाओ आदि अन्य आगम ग्रन्थों में भी इनका वर्णन मिलता है। प्रकीर्णकों में से अन्यतम मरणसमाधि में बारह अनुप्रेक्षाओं का स्पष्टतः वर्णन मिलता है। स्फुट रूप में आगमों में इनका विस्तृत वर्णन मिलता है।

बारसाणुवेक्खा आचार्य कुन्दकुन्द की प्रथम ऐसी स्वतन्त्र रचना है जिसमें लगता है, परम्परागत गाथाएं अधिक संकलित हुई हैं। मूलाचार भी मेरी दृष्टि में उन्हीं का ग्रन्थ है। उसमें भी अध्याय ८ में उन्होंने २५-२९ तक की पांच गाथाएं यथावत् समायोजित की हैं। पूज्यपाद ने भी उसी क्रम में सर्वार्थसिद्धि में उनको उद्धृत किया है (२.१०)। मूलाचार में ७४ गाथाओं में अनुप्रेक्षा का वर्णन मिलता है। यह वर्णन भी परम्परागत सा लगता है। मरणसमाधि में भी अनेक गाथाएं इन दोनों ग्रन्थों से उद्धृत हुई हैं। भगवती आराधना में १६० गाथाओं में अनुप्रेक्षा का विवेचन बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है धर्मध्यान के आलम्बन के रूप में। उसमें आचार्य शिवार्य ने उपमा और रूपकों का आकर्षक प्रयोग किया है एक उच्चकोटि के कवि के समान। उन्होंने इसमें आत्मानुभूति का उद्देश्य लेकर एक नई दिशा दी है। उनकी दृष्टि में अर्थ और काम अशुभ है और मात्र धर्म शुभ है। उसी से कर्माश्रव के कारण निरुद्ध किये जा सकते हैं। इन तीनों ग्रन्थों में अनेक गाथाएं समान रूप से मिलती हैं। डॉ. उपाध्ये ने ऐसी गाथाओं का उल्लेख किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने बारसाणुवेक्खा में ९१ गाथाओं में बारह अनुप्रेक्षाओं को स्पष्ट किया है और मूलाचार में ६९२ गाथा से ७६२ गाथाओं में उन्हें विवेचित किया है। षड्खण्डागम के वेदना के अनुयोगद्वार में तथा धवला में निर्जरा के अन्तर्गत अनुप्रेक्षाओं को अन्तर्भुक्त किया गया है। भगवती आराधना में १५९ गाथाओं (१७२४-१८८२) में यह वर्णन मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र में संवर का हेतु मानकर नवम अध्याय में उसका वर्णन हुआ है और उसे स्वाध्याय का आलम्बन माना गया है (९.२५)। तत्त्वार्थसूत्र की टीकाकारों ने भी उसका पूरा अनुकरण किया है। जैसे अकलंक ने राजवार्तिक में, सिद्धसेन ने भाष्यानुसारिणी में, विद्यानंद ने श्लोकवार्तिक में और श्रुतसागर ने तत्त्वार्थवृत्ति में। इनके अतिरिक्त तत्त्वार्थसार (छठा अधिकार) यशस्तिलकचम्पू (उपासकाध्ययन, ३९.८.२०५) अमित गति श्रावकाचार (१३.८१; १४.१-२४ आदि), ज्ञानार्णव (२.१४.५७), वृहद्द्रव्यसंग्रह (९०.१३१), पद्मनन्दि पंचविंशतिका (२०८-२१६), अनगारधर्माभूत (७.८६; ६.५७-८२) आदि ग्रन्थों में भी बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन मिलता है।

विषय परिचय

जैन परम्परा में अनुप्रेक्षा पर पर्याप्त लिखा गया है। संस्कृत, प्राकृत आदि सभी प्राच्य भाषाओं में कहीं ग्रन्थों के अन्तर्गत उस पर विचार किया गया है तो कहीं स्वतन्त्र ग्रन्थों में आचार्यों ने अनुप्रेक्षा का व्याख्यान किया है। यहां हम मात्र प्राकृत ग्रन्थों के आधार पर उसका विश्लेषण करेंगे। प्राकृत ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द का बारसाणुवेक्खा और उन्हीं का मूलाचार, शिवार्य की भगवती आराधना और कार्तिकेय स्वामी की कत्तिगेयाणुप्पेक्खा प्रमुख हैं जिनमें अनुप्रेक्षा का वर्णन मिलता है। इनमें कार्तिकेयानुप्रेक्षा प्रथम प्राकृत ग्रन्थ है जिसमें ४९१ गाथाओं के माध्यम से विस्तृत वर्णन अनुप्रेक्षाओं पर हुआ है। उसे हम इस प्रकार संक्षेप में समझ सकते हैं। यह क्रम तत्त्वार्थसूत्र का अनुकरण करता है।

१) अनित्यानुप्रेक्षा

आचार्य कुन्दकुन्द ने बारसाणुवेक्खा में इसे अध्रुव नाम दिया है और मूलाचार में अनित्य संज्ञा से व्याख्यायित किया है। उत्तरकाल में इन दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। शिवार्य ने अध्रुव शब्द लिया है और कार्तिकेय ने अनित्य शब्द का प्रयोग किया है। बारसाणुवेक्खा में ५ गाथाओं द्वारा अनित्यानुप्रेक्षा को समझाया गया है। प्रथम चार गाथाओं में सांसारिक पदार्थों की अनित्यता को बताते हुए अन्तिम गाथा में आत्मा की नित्यता का उल्लेख है। मूलाचार में मात्र दो गाथाओं में इसका वर्णन मिलता है। भगवती आराधना में इसके लिए १३ गाथाएं दी गई हैं जिनमें सांसारिक अनित्यता को जल का फेन, स्वप्नज्ञान, विद्युत्चंचलता, बुलबुले, चंचल तरंगों, नौकायात्रियों जैसा संयोग, धूल-आकार आदि जैसी उपमाओं से स्पष्ट किया गया है और अन्तिम गाथा में जीव की अज्ञानता को दर्शाया गया है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में अनित्यानुप्रेक्षा को १९ गाथाओं में समाहित किया गया है। प्रारम्भ में संसार की अनित्यता को बताते हुए धन की तीन अवस्थाओं का चित्रण किया है - दान, भोग और नाश। फिर उसकी चंचलता को बताते हुए दान के लिए प्रोत्साहित किया और अन्तिम गाथा में निर्मोही होकर उत्तम सुख प्राप्त करने का उपदेश दिया (का. गा. ४.२२)।

आचार्य कार्तिकेय ने प्रथम गाथा में “‘वोच्छं अणुपेहाओ’ और गाथा क्र. ४९० में ‘बारस अणुवेक्खाओ भणिया’ कहकर ग्रन्थ का नाम “‘बारस अणुवेक्खा” संकेत किया। पर आचार्य कुन्दकुन्द के बारसाणुवेक्खा से पृथक् पहचान बनाये रखने के लिए संस्कृत टीकाकार आचार्य शुभचन्द्र ने उसमें स्वामीकार्तिकेय और जोड दिया और हिन्दी वचनिकाकार जयचन्द्र ने शुभचन्द्र का ही अनुकरणकर उसे स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा बना दिया। शुभचन्द्र ने इसमें कुल ४९१ गाथाओं का उल्लेख किया है। यहां कार्तिकेयानुप्रेक्षा में संसार की परिणमनशीलता, लक्ष्मी की क्षणिकता और जीव की उसके प्रति मोहासक्ति का वर्णन करते हुए मोह से विमुक्त होने का उपदेश दिया गया है। मूलाचार में संसार की अनित्यता और भगवती आराधना में जीव की अज्ञानता का वर्णन है। अनित्यता की उपमा जल के बुलबुले, इन्द्रधनुष, विद्युत और मेघ से दी गई है।

२) अशरणानुप्रेक्षा

आचार्य कुन्दकुन्द ने बारस अणुवेक्खा में अशरणानुप्रेक्षा के लिए ६ गाथाएं दी हैं जिनमें प्रारम्भिक तीन गाथाओं में जीव की अशरणता और अन्तिम तीन गाथाओं में जीव की यथार्थ शरण को स्पष्ट किया है। मणि, मन्त्र, औषधि, विद्याएं, इन्द्रादि देव आदि कोई भी जीव के लिए शरण नहीं दे सकता। सर्वोत्तम शरण देने वाला यदि कोई है तो वह है आत्मा। शुद्ध आत्मा ही उत्तम शरण है जो पंच परमेष्ठियों में अधिवास करती है (गा. ८-१३)। मूलाचार में कुन्दकुन्द ने मात्र तीन गाथाओं में अशरणानुप्रेक्षा को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया और मात्र जिनमत को श्रेष्ठ रक्षक और उत्तम गति देने वाला बताया (गा. ६९५-६९७)।

भगवती आराधना में शिवार्य ने १८ गाथाओं में इस अनुप्रेक्षा की व्याख्या की है। उन्होंने कहा कि अशुभ कर्मोदय के कारण अमृत भी विष बन जाता है, मित्र भी शत्रु हो जाता है जबकि शुभ कर्मोदय के परिणाम स्वरूप विष भी अमृत बन जाता है, मित्र भी शत्रु हो जाता है जबकि शुभ कर्मोदय के परिणाम स्वरूप विष भी अमृत बन जाता है, गुणहीन ही यशोभागी हो जाता है। कर्म संसार को उसी प्रकार मसल देता है जैसे निरंकुश हाथी कमलिनी को मसल देता है (गाथा, १७३८-१७५५)। उत्तम शरण तो रत्नत्रय और सम्यक् तप है। कर्मों की उदीरणा ही जीव के लिए एक शरण है। इस तथ्य को अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस अनुप्रेक्षा के लिए ९ गाथाएं मिलती हैं। यहां कहा गया है कि जब हरिहर ब्रह्मा आदि भी मृत्यु से नहीं बच सके तो फिर और कौन बच सकता है। सिंह रूपी मृत्यु से ग्रसित हरिण के समान जीव सर्वत्र असुरक्षित है। सुरक्षित है तो वह जो रत्नत्रय और क्षमादि भावों से तीव्र कषायों को स्वयां हनन करता है (गा. २३-३१)। यहां जीव की अशरणता को मृत्यु के माध्यम से व्यक्त किया गया जबकि भगवती आराधना में कर्मफल का माध्यम लिया गया है। इसी तरह भगवती आराधना में रत्नत्रय और तप को एक मात्र शरण माना है जबकि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में क्षमादि भावों को भी समाहित किया गया है और मणि, मन्त्रादिकों की शरण को व्यर्थ माना गया है।

३) संसारानुप्रेक्षा

संसार का तात्पर्य है जन्म-जन्मान्तरों में संसरण करना, चारों गतियों में भिन्न-भिन्न स्थितियों में भटकना। इस संसरण का कारण है मिथ्यात्व और कषाय। इस पर चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। बारस अनुप्रेक्षा में आचार्य कुन्दकुन्द ने १५ गाथाओं में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप संसार का वर्णन जाति, जरा, मरण, रोग और भय के माध्यम से किया है। इस संसरण के कारणों में पाप बुद्धि, मिथ्यात्व, कषाय, कर्म आदि प्रमुख हैं जिनपर अनुप्रेक्षण किया जाता है। इसी तथ्य को उन्होंने मूलाचार में आठ गाथाओं में प्रस्तुत किया है। भगवती आराधना में संसारानुप्रेक्षा के लिए २८ गाथाएं दी गई हैं। आचार्य शिवार्य ने इसे स्पष्ट करने के लिए महा अटवी, महासमुद्र, भंवर, महाद्वीप, महामच्छ, कर्म-काण्ड, घटीयन्त्र, नट, गिरगिट जैसे रूपकों का उपयोग किया है और संसार रूपी सर्प, दुःख रूपी भंवर, विषय रूपी धारा, सुख रूपी कील, अज्ञान रूपी तुम्ब, कषाय रूप पट्टिका, सहस्रमार्ग, संसार चक्र, देह रूप भार आदि की उपमाओं द्वारा सांसारिक दुःखों का वर्णन किया है (गाथा १७७७-१८०४)।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में संसारानुप्रेक्षा के लिए ४२ गाथाओं का उपयोग किया गया है। इनमें चतुर्गतियों के दुःखों का वर्णन है। नरक और तिर्यच गति के दुःखों के वर्णन के बाद मनुष्य गति के दुःखों का वर्णन विशेष

विस्तार से किया गया है। इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग का दुःख भोगता हुआ जीव कषायों के वशीभूत होकर धर्मारधना नहीं कर पाता। वही जीव देवगति में ईर्ष्यादि के कारण दुःख सहता है। इन सभी दुःखों के पीछे मिथ्यात्व और कषायों का हाथ अधिक रहता है (गाथा ३२-७३)। यहां संसार के पांच भेद किये गये हैं - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव (गाथा ६६)। कर्मबन्ध के पांच कारण हैं - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। जीव का प्रत्येक समय इन कर्म पुद्गलों और नोकर्म पुद्गलों को ग्रहण करना द्रव्य संसार है। जीव का प्रत्येक प्रदेश में जन्म-मरण करना क्षेत्र संसार है। अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल में जन्म-मरण करना काल संसार है। नरकादि चारों गतियों में जन्म-मरण करना भव संसार है और समस्त कर्मों की स्थिति को भोगने को भाव संसार कहते हैं (गाथा ६७-७३)। इन सभी तत्त्वों पर चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है। इससे साधक को वैराग्य पैदा होता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इसे तृतीय स्थान मिला है जबकि अन्य प्राकृत ग्रन्थों में इसका विचार पंचम स्थान पर हुआ है। सभी ग्रन्थों में संसार के पंच परावर्तन का वर्णन मिलता है पर भगवती आराधना में उपमाओं का माध्यम अधिक लिया गया है। संसारिक दुःखों का वर्णन सभी ने किया है पर भगवती आराधना में अटवी, समुद्र, सर्प, चक्रादि की उपमाएं देकर उसको स्पष्ट किया गया है।

४) एकत्वानुप्रेक्षा

एकत्व का तात्पर्य है अकेलापन। जीव इस संसार में अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है। धन, ऐश्वर्य, परिवार आदि कोई भी तत्त्व उसका साथ नहीं देता। इस भावना के आने से साधक को स्वजनों से न राग रहता है और न परजनों से द्वेष होता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इसे चतुर्थ स्थान दिया गया है। शेष अन्य ग्रन्थों में उसे तृतीय स्थान मिला है। मूलाचार में २, बारसाणुवेक्खा तथा भगवती आराधना में सात-सात और कार्तिकेयानुप्रेक्षा में ९ गाथाओं में इसका वर्णन हुआ है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि जीव को सब कुछ अकेले ही भोगना पडता है। पाप, पुण्य, रोग सहन आदि भोगने में और कोई दूसरा नहीं आता। दशलक्षण धर्म ही उसका सहायक बनता है। तदर्थ साधक को जीव और शरीर की भिन्नता पर विशेष विचार करना चाहिए। आचारांग में भिक्षु को सलाह दी गई है कि वह एकत्व भावना को भाता हुआ आत्मज्ञ होकर तप के सम्मुख हो (८.६.९७.२९०-९९)। बारसाणुवेक्खा में एकत्व की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि दर्शन से रहित जीव सर्वथा भ्रष्ट है। उसे निर्वाण प्राप्त नहीं हो पाता। चरित्र से भ्रष्ट जीव तो फिर भी निर्वाण प्राप्त कर लेता है। अतः संयमी जीव ही एकत्व की अनुभूति कर पाता है (गाथा १४-२०)। भगवती आराधना में भी धर्म को ही विशेष उपयोगी माना गया है (गाथा, १७५६-१७६२)। भगवती आराधना में कर्म पर अधिक बल दिया गया है जबकि कार्तिकेय ने दश धर्मों का विशेष विवेचन किया है और उन्हें सच्चा मित्र माना है।

५. अन्यत्वानुप्रेक्षा

माता-पिता, धन-धान्य आदि सब कुछ भिन्न हैं, अन्य हैं, इसका चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। सभी बाह्य द्रव्य जीव से भिन्न हैं। फिर भी यह संसारी जीव इस पर चिन्तन किये बिना ही राग-द्वेष करता रहता है। राजवार्तिक में अन्यत्व को चार प्रकार से समझाया गया है - नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

बारसाणुवेक्खा में कहा गया है कि सभी बाह्य द्रव्य जीव से अन्य हैं, भिन्न हैं। आत्मज्ञान ही दर्शन रूप है (गाथा २१-२३)। मूलाचार में भी लगभग यही मिलता है (गाथा ७००-७०२)। भगवती आराधना में अन्यत्वानुप्रेक्षा का वर्णन १४ गाथाओं में किया गया है। वहां कहा है कि स्वजन संयोग वृक्ष पर बैठे पक्षियों के समान क्षणिक हैं। सभी सम्बन्ध स्वार्थवश होते हैं। उपकार-अपकार से ही लोग मित्र और शत्रु बन जाते हैं। बान्धव ही असंयमी बनाने में कारण बनते हैं परन्तु साधु पुरुष तीव्र असंयम को दूर करा देते हैं (गाथा, १७६३-७६)। वहां कहा गया है कि जीव का शरीर माता-पिता के शरीर से भिन्न है, अनय है। ऐसा चिन्तन करते हुए आत्मा का ध्यान करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। सभी ग्रन्थों में इसी तरह शरीर से भिन्न आत्मा का ध्यान करने का उद्देश्य बताया गया है।

६. अशुचित्वानुप्रेक्षा

अशुचित्व का तात्पर्य है अपवित्रता। शरीर की अपवित्रता को स्पष्ट करते हुए उससे वैराग्य उत्पन्न करना इसका उद्देश्य है। नव द्वारों से इस शरीर से मल बहा करता है। उससे राग क्यों किया जाये ? कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इसे छठा स्थान मिला है जबकि अन्य ग्रन्थों में उसे सप्तम स्थान दिया गया है। भगवती आराधना में अशुचित्व के स्थान पर अशुभ शब्द का प्रयोग हुआ है।

शरीर अशुचित्व का आगार है। ऐसे शरीर से सम्पर्क करना भी अशुचिता को बढ़ावा देना है। अशुचिता के साथ ही काम की अशुचिता का भी वर्णन हुआ है। अशुचिता के कारणों में चतुर्गतियों के दुःख भी अन्यतम कारण हैं (मूला. ७२१-७२२)। भगवती आराधना में अनेक उपमाओं के माध्यम से शरीर की अपवित्रता को स्पष्ट किया गया है। अर्थ, काम, देह, अशुभ हैं और मात्र धर्म शुभ है। शरीर तो वस्तुतः दुर्गन्ध युक्त कुटी है। वह तो मल का घड़ा है। मात्र धर्म ही पवित्र है (भगवती १८२०-२७)। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में शरीर की अपवित्रता को बड़े आकर्षक ढंग से स्पष्ट किया गया है और कहा गया है कि शरीर से विरक्त साधक आत्मा के शुद्ध चिद्रूप पर ध्यान करता है। यही अशुचित्वानुप्रेक्षा है (गाथा ८३-८६)। मूलाचार में देह की अशुचिता के साथ अर्थ और काम की भी अशुचिता का वर्णन है। भगवती आराधना में इसी को अर्गला, अपवित्र कुटी आदि उपमाओं के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

७. आश्रवानुप्रेक्षा

आश्रव का अर्थ है कर्मों का आना। जैसे तालाब में जल के आने के लिए जल का द्वार कारण है उसी प्रकार आत्मा के साथ बंधने के लिए कर्म योग रूपी नाली के द्वार आते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार उसके कारण होते हैं। (स.सि. ६.१-२) उसके कारण होते हैं। बारसाणुवेक्खा में इसका वर्णन १४ गाथाओं में भगवती आराधना में १५ गाथाओं में और कार्तिकेयानुप्रेक्षा में ७ गाथाओं में आश्रवानुप्रेक्षा का वर्णन हुआ है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में योग को आश्रव का कारण कहा है यह योग तीन प्रकार का है - मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इनके निमित्त से ही आत्मा के प्रदेशों में हलन-चलन होता है। कर्म दो तरह के होते हैं - पुण्य और पाप। इन्हें क्रमशः शुभाश्रव और अशुभाश्रव कहा जाता है। बाद में मन्द और तीव्र कषायी जीवों के लक्षण बतलाये हैं। फिर कहा है कि जो मिथ्यात्व कषायादि को नहीं छोड़ता उसकी आश्रवानुप्रेक्षा निरर्थक होती है और जो मुनि साम्य भाव में तीन होकर मोहादि भावों को त्याग देता है उसकी आश्रवानुप्रेक्षा सार्थक होती है (गाथा ८८-९४)।

कार्तिकेय ने इसे सप्तम स्थान पर रखा है जबकि अन्यत्र उसे अष्टम स्थान दिया गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आश्रव की परिभाषा देकर उसके मात्र प्रकार बताये गये हैं, मूलाचार और भगवती आराधना में उसकी अनेक उपमाओं के माध्यम से वर्णन हुआ है जैसे राख के लिए चन्दन वृक्ष लगाना और नन्दनवन में अमृत की जगह विषपान करना।

८. संवरानुप्रेक्षा

आश्रव का निरोध संवर है। वह दो प्रकार का है भावसंवर और द्रव्यसंवर। सम्यक्त्व, महाव्रत, कषायों को जीतना, और योगों का अभाव ये संवर के पर्यायार्थक हैं। बारस अणुवेक्खा में ५ गाथाओं में मूलाचार में ६ गाथाओं में भगवती आराधना में १० गाथाओं में और कार्तिकेयानुप्रेक्षा में ७ गाथाओं में इस अनुप्रेक्षा का वर्णन हुआ है। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और उत्कृष्ट चारित्र्य ये संवर के कारण हैं। इन संवरों के हेतुओं पर विचार करते हुए भी जो इनका आचरण नहीं करता वह संसार में भ्रमण करता रहता है और जो उनपर अनुप्रेक्षा करते हुए आचरण करता है उसकी संवरानुप्रेक्षा होती है (गाथा ९५-१०१)। भगवती आराधना में अनेक सुन्दर उपमाओं द्वारा आश्रवों के कारणों और उसके निरोध को स्पष्ट किया गया है।

अन्य ग्रन्थों में इसे नवम स्थान मिला है जबकि कार्तिकेय ने इसे आठवें स्थान पर रखा है और उसके कारणों पर विचार किया है। भगवती आराधना में संवर को उपमाओं के माध्यम से अधिक सफलता पूर्वक स्पष्ट किया गया है, जैसे सम्यक्त्व की दृढ़ कपाट से, दृढ़ व्रत की अर्गला से।

९. निर्जरानुप्रेक्षा

कर्मों का निर्जीर्ण होना निर्जरा है। सर्वार्थसिद्धि में इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार भोजन का फल निवृत्त होकर निर्जीर्ण हो जाना है, उसी प्रकार आत्मा का भला-बुरा करके, पूर्व प्राप्त स्थिति का नाश हो जाने से, स्थिति न रहने के कारण कर्म की निवृत्ति होना निर्जरा है। बारसाणुवेक्खा में दो गाथाओं में, मूलाचार में ९ गाथाओं में, भगवती आराधना में १२ गाथाओं में और कार्तिकेयानुप्रेक्षा में १३ गाथाओं में निर्जरानुप्रेक्षा को स्पष्ट किया गया है।

निर्जरा का मूल कारण तप है। कर्मों की यह निर्जरा दो प्रकार की होती है - सविपाक और अविपाक। सविपाक में पूर्वबद्ध कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर अपना फल देते हैं और अविपाक में तप के द्वारा स्थिति पूरी होने के पूर्व ही कर्मफल निर्जीर्ण हो जाता है। बारह प्रकार के तप द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। यहां निर्जरा के ११ स्थानों का उल्लेख है। तदनन्तर निर्जरा किसकी होती है, इसका विवेचन हुआ है। अन्त में बतलाया गया है कि जो मुनि समता सुख में लीन, बार-बार आत्मा का स्मरण करता है, इन्द्रियों और कषायों को जीतने वाला है उसी साधु के उत्कृष्ट निर्जरा होती है (गाथा १०२-११४)।

अन्य ग्रन्थों में इसे दशम स्थान पर जबकि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उसे नवम स्थान पर संयोजित किया गया है। यहां निर्जरा के ११ स्थानों का वर्णन है जो अन्यत्र नहीं मिलता (का. १०६-१०८)। भगवती आराधना में सुन्दर रूपकों द्वारा मोक्ष-लक्ष्मी को पाने का उपाय बताया गया है (गाथा, १८६२-६४)।

१०. लोकानुप्रेक्षा

जीवादि पदार्थों का समवाय लोक कहलाता है। बारसाणुवेक्खा में ४ गाथाओं में, मूलाचार में ९ गाथाओं में, भगवती आराधना में १५ गाथाओं में और कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय ने १६९ गाथाओं में इस अनुप्रेक्षा पर विचार किया गया है। यहां लोक के तीन भाग बताये हैं - अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। इस सन्दर्भ में जीवों की परिभाषा, उनके भेद, पर्याप्त के भेद और लक्षण, प्राण की परिभाषा और जीवों की संख्या, निवास स्थान, संख्या, सान्तर मार्गणा, अल्पबहुत्व, अवगाहना, द्रव्य, ज्ञान आदि का विस्तृत वर्णन है। जो उपशम परिणामी इस लोक स्वरूप का ध्यान करता है वह कर्म समूहों को नष्ट कर लोक के शिखर पर प्रतिष्ठित हो जाता है।

अन्य ग्रन्थों में इसे षष्ठ स्थान दिया गया है जबकि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उसे दशम स्थान मिला है। इस अनुप्रेक्षा के वर्णन में आचार्यों में साम्य नहीं दिखाई पड़ता। भगवती आराधना में लोक का वर्णन विभिन्न जन्मों के सन्दर्भ में सोदाहरण किया गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इसके लिए सर्वाधिक गाथाएं दी गई हैं। इसमें जीवों का विस्तृत विवेचन, द्रव्य विवेचन, तत्त्वश्रवण और त्रय उपयोगों का वर्णन किया गया है।

११. बोधिदुर्लभ धर्मानुप्रेक्षा

इस अनुप्रेक्षा में बोधि-धर्म की दुर्लभता और उसपर चिन्तन किया जाता है। सर्वार्थसिद्धि में इस दुर्लभता का क्रम इस प्रकार दिया हुआ है - चतुर्गतियों में मानवयोनि अत्यन्त दुर्लभ है, उसमें भी उत्तम कुल, देश, नीरोगता, समीचीन धर्म, समीचीन दृष्टि, विषय सुख-निवृत्ति, तपो भावना, धर्म प्रभावना, समाधि और फिर बोधि लाभ दुर्लभ है। इसी पर चिन्तन करना बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा है (स. सि. ९.७)।

बारसाणुवेक्खा में ४ गाथाओं में, मूलाचार में १२ गाथाएं, भगवती आराधना में ८ गाथाएं और कार्तिकेयानुप्रेक्षा में १८ गाथाओं में वर्णन हुआ है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में स्वामी कार्तिकेय ने प्रारंभ में बोधि दुर्लभता को स्पष्ट करते हुए जीव के विभिन्न जन्मों का वर्णन किया और फिर बोधिदुर्लभता को स्पष्ट किया (का. २८४-३०१)। अन्य ग्रन्थों में इसे द्वादश स्थान पर जबकि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में एकादश स्थान पर इसे रखा गया है। सभी ग्रन्थों में मनुष्य जन्म और बोधि दुर्लभता की बात विविध उपमाओं के साथ कही गई है।

१२) धर्मानुप्रेक्षा

बारसाणुवेक्खा में १५ गाथाओं द्वारा मूलाचार में ५ गाथाओं द्वारा, भगवती आराधना में ९ गाथाओं द्वारा और कार्तिकेयानुप्रेक्षा में १९१ गाथाओं में वर्णन हुआ है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में धर्म के दो भेद किये गये हैं - गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म। गृहस्थधर्म के १२ भेद हैं - १) शुद्ध सम्यग्दृष्टि, २) मद्यादि स्थूल दोषों से रहित सम्यग्दृष्टि (दार्शनिक श्रावक), ३) व्रतधारी, ४) सामायिकव्रती, ५) पर्वव्रती, ६) प्रासुकाहारी, ७) रात्रिभोजनत्यागी, ८) मैथुनत्यागी, ९) आरम्भ त्यागी, १०) परिग्रहत्यागी, ११) कार्यानुमोदविरत और १२) उद्दिष्ट आहारव्रत (गा. ३०५-६)। इसके बाद इनकी विस्तृत व्याख्या की गई है (गाथा ३०७-४३७)। आगे धर्मानुप्रेक्षा की चूलिका में कार्तिकेय स्वामी ने बारह प्रकार के तप का व्याख्यान किया है (गा. ४३८-४९१)।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा गृहस्थों और मुनियों, दोनों के उद्देश्य से लिखी गई है विशेष रूप से गृहस्थों को सामने रखकर। भगवती आराधना कर्म को प्रधान मानकर चलती है जबकि का. मृत्यु को अवश्यम्भावी मानकर उसका वर्णन करती है। मूलाचार में जिनधर्म की शरण को मुख्य माना गया है जबकि का. में आत्मा की शरण लेने की सलाह दी गई है। इसलिए यहां धर्म की व्याख्या विशेष रूप से की गई है। संवर निर्जरा की व्याख्या के प्रसंग में कवि आचार्य ने जीव, द्रव्य, पुद्गल, ध्यान, नय, सागारधर्म, व्रत, गुणस्थान, रत्नत्रय, अनागारधर्म आदि का भी विवेचन किया है। अन्य ग्रन्थों में इसे एकादशम स्थान दिया गया है जबकि कार्तिकेय ने इसे द्वादशम माना है। उन्होंने सर्वाधिक १९१ गाथाओं द्वारा इसका वर्णन किया गया है। इसमें श्रावक धर्म का विवेचन विशेष रूप से हुआ है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा के रचयिता

कार्तिकेयानुप्रेक्षा के रचयिता स्वामी कुमार या कार्तिकेय थे। उनके विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। कार्ति. के संस्कृत टीकाकार आचार्य शुभचन्द्र कदाचित् प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने श्री कुमार या कार्तिकेय को इस ग्रन्थ के रचयिता के रूप में प्रस्थापित किया है। लेखक ने स्वयं के विषय में अधिक कुछ भी नहीं लिखा। ग्रन्थ की अन्तिम निम्न गाथाओं में इतना अवश्य मिलता है कि जिनागम की भावना से स्वामी कुमार ने अपने चंचल मन को रोकने के लिए यह अनुप्रेक्षा ग्रन्थ लिखा है। जो भी इसका अध्ययन करेगा वह उत्तम सुख को प्राप्त करेगा।

जिण-वयण-भावणट्टं सामि-कुमारेण परम-सद्धाए ।

रइया अणुवेहाओ चंचल-मण-रुंभणट्टं च ॥४८९॥

बारस-अणुवेक्खाओ भणिया हु जिणागमाणुसारेण ।

जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥४९०॥

आचार्य शुभचन्द्र ने अपनी टीका में इन दोनों गाथाओं को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि स्वामी कुमार आजन्म बालब्रह्मचारी थे। चौबीस तीर्थकरों में वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पांच तीर्थकरों ने कुमारावस्था में ही तपश्चरण किया। इसलिए वे इन पांचों बालब्रह्मचारी तीर्थकरों का स्तवन किया करते थे। टीकाकार ने श्री कुमार के साथ ही कार्तिकेय और जोड़ दिया। भण्डारकर ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट पूना की पाण्डुलिपि के अन्त में लिखा है - श्री स्वामिकार्तिकेय कृतानुप्रेक्षा समाप्ता। यही तथ्य शुभचन्द्र ने गाथा क्र. २८३ की टीका में भी लिखा है - एवं स्वामिकार्तिकेयोक्तद्वादशानुप्रेक्षासु...। इस आधार पर इस ग्रन्थ का नाम डॉ. उपाध्ये ने “स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा” रखा। कार्तिकेय कुमार का ही पर्यायार्थक है।

गाथा क्र. ३९४ की टीका में आचार्य शुभचन्द्र ने पुनः इसी नाम का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है - स्वामि कार्तिकेय मुनि ने क्रौंच राजा द्वारा किये गये उपसर्ग को साम्यभाव से सहनकर देवलोक प्राप्त किया - स्वामिकार्तिकेयमुनिः क्रौञ्च राजकृतोपसर्ग सोद्वा साम्यपरिणामेन समाधिमरणेन देवलोक प्राप्तः। इसमें यद्यपि कहीं भी ग्रन्थकार कार्तिकेय और मुनि कार्तिकेय की एकात्मकता स्थापित नहीं की गई है पर यह अनुमान तथ्यहीन नहीं होगा कि कुमार ही मुनि अवस्था में कार्तिकेय हो गये थे और वे दोनों नामों से जाने जाते थे।

कार्तिकेय की इस साधना कालीन उपसर्ग का उल्लेख कथाकोशों में भी हुआ है। भगवती आराधना गाथा क्र. १५४९ में आचार्य शिवार्य ने इस घटना का उल्लेख “कोंचेण अग्गिदइदोवि” कहकर किया है।

जिज्ञयोदया टीका में इसे 'अग्निराजसुतः' कहा है और आशाधर ने मूलाराधनादर्पण में "अग्निराजनाम्नः पुत्र कार्तिकेय संज्ञः" लिखा है। प्रकरण दशकम् के "संथारग" (गाथा, ६७-६९) में कत्तिय और वृहत् कथाकोश (कथा क्र. १३६) में कार्तिक के रूप में उसका उल्लेख है, कार्तिकेय के रूप में नहीं। इन मुनिवर का विस्तृत जीवन वृत्तान्त हरिषेण, श्रीचन्द्र, प्रभाचन्द्र, नेमिदत्त आदि आचार्यों के कथाकोशों (पृ. ३२४) में वर्णित है। इस वर्णन से, लगता है, स्वामी कार्तिकेय की जीवन-घटना का ही वर्णन हुआ है।

जहां तक कुमार कार्तिकेय के समय निर्धारण का प्रश्न है, उसका अनुमान ही लगाया जा सकता है। आचार्य शुभचन्द्र ने कत्तियेयाणुपेक्खा की संस्कृत टीका सं. १६१३ (१५५६ ई.) में समाप्त की। इसकी प्राचीनतम पाण्डुलिपि सं. १६०३ (१५४६ ई.) की पूना में उपलब्ध है। आचार्य श्रुतसागर (१६वीं शती) ने 'उक्तं च' कहकर कार्ति. की गाथा क्र. ४७८ को उद्धृत किया है। ब्रह्मदेव (१३ वीं शती) ने भी इसी गाथा को अपनी टीका प्रकाश (२.६८) में उद्धृत किया है। इससे इतना तो सिद्ध होता है कि कार्तिकेय १३वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती आचार्य होने चाहिए।

दूसरी ओर कार्तिकेय पर आचार्य कुन्दकुन्द और शिवार्य का गंभीर प्रभाव है। पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि पर कार्तिकेय की गाथा क्र. ८८ का प्रभाव दिखाई देता है जब वे "आत्मप्रदेश परिस्पन्दो योगः' कहते हैं। इसी तरह कार्ति. की गाथा क्र. ९५ त.सू. के ९.१४ सूत्र से प्रभावित होती दिखाई देती है। इतना ही नहीं, कार्ति. की गाथाओं पर जोइन्दु और आचार्य नेमिचन्द्र के गोम्मटसार का भी प्रभाव दिखाई देता है। डॉ. उपाध्ये ने विस्तार से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कुमार कार्तिकेय का समय आचार्य कुन्दकुन्द-वट्टकेर, शिवार्य, उमास्वाति, पूज्यपाद, जोइन्दु और नेमिचन्द्र के बाद अर्थात् दशमी शताब्दी और ब्रह्मदेव के पूर्व १३ वीं शताब्दी के बीच रखा जा सकता है। कार्ति. की गाथा नं. २७९ में णिसुणहि और भवहि जैसे अपभ्रंश शब्दों का प्रवेश दिखाई देता है जो योगीन्दु की गाथा नं. ६५ का परिवर्तित रूप है। अतः कार्तिकेय का समय जोइन्दु (छठी शताब्दी) के बाद ही होना चाहिए। मुख्तार सा. डॉ. उपाध्ये के इस अभिमत के पक्ष में नहीं हैं।

डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने कुमार कार्तिकेय को उच्चनागरी शाखा के आचार्य कुमारनन्दि के साथ समीकरण जोड़कर उनका समय प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई.पू. निश्चित किया है। मथुरा के एक अभिलेख में संख्या ६४ में उनका उल्लेख हुआ है। वे लोहाचार्य के समकालीन हो सकते हैं। कदाचित् आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु भी रहे हों। मथुरा के एक अन्य अभिलेख नं. १२१ में भी कुमारनन्दि का उल्लेख आया है। उच्च नागरी शाखा के आचार्यों ने सरस्वती आन्दोलन में प्रशंसनीय योगदान दिया है। अतः आचार्य कार्तिकेय का समय प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई. माना जा सकता है।

बौद्ध साहित्य में अनुप्रेक्षा

जैनधर्म के समान बौद्धधर्म में भी अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त मिलता है। वहां इसे अनुविच्च, अनुपेक्खिनो (धम्मपद, ३४६-३४७) और अनुस्सति जैसे शब्दों से अभिव्यक्त किया गया है। अनुस्सति की संख्या विसुद्धिमग्ग में दस बताई गई है - १) बुद्ध अनुस्सति, २) धम्म, ३) संघ, ४) सील, ५) चाग, ६) देवता, ७) मरण, ८) कायगता, ९) आनापान और १०) उपसम अनुस्सति बौद्धधर्म में भावना शब्द का भी प्रयोग हुआ है। अनुप्रेक्षा से मिलता-जुलता एक और शब्द प्रयुक्त हुआ है धम्मपद के कोधवग्ग में। वह है अनुविच्च -

यञ्चे विञ्जू पसंसन्ति अनुविच्च सुवे सुवे ।
अच्छिद्दवुत्तिं मेधाविं पञ्जासीलसमाहितं" ॥२२९॥

इसी तरह धम्मपद के तण्हावग्ग में अनपेक्खिनो शब्द का प्रयोग हुआ है जो अनुप्रेक्षा के ही अर्थ में उपलब्ध है -

एतं दळ्हं बन्धनमाहुधीरा ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं ।
एतम्पि छेत्वान परिब्बजन्ति अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय" ॥३४६॥

इन सभी का सम्बन्ध ध्यान से है जिसे समाधि भावना कहा गया है। दोनों परम्पराओं में इसका सम्बन्ध चिन्तन और स्वाध्याय से है, अनुप्रेक्षा से है। बौद्धधर्म की १) बुद्ध, २) धम्म, उपसमन, संघ ३) सील, चाग ४) देवता ५) आनापान, मरण, और कायगता स्मृति को जैनधर्म की क्रमशः १) अशरण, २) धर्म, बोधि दुर्लभ, संवर, ३) निर्जरा, ४) लोक संसार, ५) एकत्व-अन्यत्व, ६) अनित्य, आश्रव, और ७) अशुचि भावना के साथ रखा जा सकता है। राग-द्वेष-मोह को विनष्ट करने के लिए इनकी भावना की जाती है। समूचे बौद्धसाहित्य में इनकी व्याख्या हुई है। उदाहरणार्थ -

१) बौद्धधर्म में सभी पदार्थों को अनित्य, दुःख और अनात्म माना है - सब्बे, संखारा अनिच्चा, धम्मपद २७७। संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, थेर-थेरी गाथा आदि पिटक साहित्य में इसकी विस्तृत व्याख्या मिलती है। जैनधर्म में मात्र पर्याय की दृष्टि से अनित्यता है जबकि बौद्धधर्म में समूचा पदार्थ ही अनित्य बताया है। यहां अध्रुव, अनित्य, क्षणभंगुर जैसे शब्दों का प्रयोग बहुत हुआ है। अनित्य, दुःख और अनात्म पर चिन्तन करते हुए साधक विपश्यना तक पहुंचता और प्रज्ञा, शील और समाधि की साधनाकर निर्वाण प्राप्त करने का प्रयत्न करता है (धम्मपद २७७-२७९)। नागार्जुन का शून्यतावाद भी इसी का विकसित रूप है।

२) दर्शन-ज्ञान-चरित्र की शरण में जाना (का.गा. ३१) इस तत्त्व को बौद्धधर्म में क्रमशः धम्म, बुद्ध

और संघ में देखा जा सकता है। इसे त्रिशरण कहा जाता है। दोनों धर्मों में सृष्टि के कर्ता हर्ता, धर्ता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया। दोनों में मृत्यु को ध्रुव माना है और कर्म को सर्वोपरि रखा है। (धम्मपद, २०३-४; थेर. १४३)।

३) संसार दुःखों का सागर है। स्कन्ध, धातु और आयतन की निरन्तरता ही संसार है। बौद्धधर्म में चतुरार्यसत्यों में प्रथम सत्य है। सांसारिक दुःख - जन्म, मृत्यु, जरा आदि। अनेकजातिसंसार संघाविस्सं अनिब्बसं आदि रूप से चतुर्गतियों का परिभ्रमण संसार है। संसार का कारण है राग द्वेष-मोह (विसुद्धिमग्ग, १७; अं.नि. २, पृ. १९; महावग्ग ४१, ३१ थेर, १७, २१५, ४५५-६)।

४-५) एकत्व और अन्यत्व का सम्बन्ध आनापानसति से है, स्वानुभूति से है, कायगतासति से है। खग्गविसाणसुत्त (सुत्तनिपात) में इसकी व्याख्या अधिक अच्छी हुई है। पारिवारिक सदस्य हमारे दुःखों को बांट नहीं सकते। उन्हें स्वयं को ही भोगना पड़ेगा। उनसे असक्ति छोड़कर व्यक्ति को स्वयं का चिन्तन करना चाहिए (थेर गाथा ७८, १७१, ५१२, ६७०, १४९-१५०)। यहां आत्मसिद्धान्त की भी मीमांसा की जा सकती है।

६) शारीरिक अशुचि का वर्णन बौद्धधर्म में बहुत मिलता है। मज्झिमनिकाय (३.२.९), जातकट्टकथा (२.२४७), थेरगाथा (२७९, १९, ४५३-५४, ५६७-६९, ११५३-५६ आदि), बोधिचर्यावतार (५.६२-६३), विसुद्धिमग्ग (१.६), इतिवुत्तक (पृ.११४) आदि ग्रन्थों में शरीर की अपवित्रता पर अच्छा चिन्तन हुआ है। कायगतासति का सम्बन्ध भी इसी से है।

७) बौद्धधर्म में भी आश्रव का स्वरूप लगभग वही है जो जैनधर्म में है। वहां आश्रव के चार प्रकार मिलते हैं - कामाश्रव, भवाश्रव, दृष्टि आश्रव और अविद्याश्रव (विसुद्धि. १.१५)। आश्रव का मूल कारण है मोह जो राग-द्वेषाविष्ट रहता है (अभिधम्मत्थ संगहो)। मनोकर्म, वचीकर्म और कायकर्म उसी से सम्बद्ध है। दुःखसमुदय आर्यसत्य आश्रव ही है।

८-९) संवर-निर्जरा का सिद्धान्त भी दोनों धर्मों में समान रूप से है। दससील इसी से संबद्ध हैं। समूचे बौद्ध साहित्य में संवर-निर्जरा पर गंभीर चिन्तन हुआ है। महाकरुणा, समता, परीषहजय, अनुस्सति, शील, तप, अप्रमाद आदि संवर-निर्जरा के कारण हैं।

१०) लोकानुप्रेक्षा में जीव के जन्म-भ्रमण का वर्णन होता है, षड्रव्यों की विवेचना होती है, स्वर्ग-नरक आदि की चर्चा होती है। बौद्धधर्म में अपायभूमि, कामसुगतभूमि, रूपावचरभूमि, अरूपावचरभूमि, इन्द्रिविध, दिव्वसोतधातु, चेतोपरिञ्जाण, पुब्बेनिवासानुस्सतिञ्जाण, दिव्वचक्खु, आसवक्खयञ्जाण, अनीश्वरवाद आदि तत्त्वों पर बौद्धधर्म में विचार हुआ है।

११-१२) बोधिदुर्लभ और धर्मानुप्रेक्षा का रूप बौद्धधर्म में देखिए। धम्मपद के बुद्धवग्ग में कहा गया है - किच्छो मनुस्सपटिलाभो...। किच्छं सद्धम्मसवणं। बोधि और समाधि का भी "चित्तं मे सुसमाहितं"

आदि जैसा वर्णन बहुत मिलता है। चित्तस्स एकगता समाधि। विपस्सना, मग्ग, फल आदि भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। विस्तारमय से यह तुलना मात्र संकेतात्मक है।

प्रस्तुत संस्करण

बारसाणुवेक्खा (कत्तिगेयाणुप्पेक्खा) का प्रस्तुत संस्करण डॉ. उपाध्ये द्वारा सम्पादित संस्करण के आधार पर तैयार किया गया है जिसका प्रकाशन श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद्रायचन्द्र आश्रम अगास से ई. सन् १९५९ में हुआ था। इस संस्करण में निम्नलिखित पाण्डुलिपियों का उपयोग किया गया -

ब	-	भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना, नं. १५००
ल	-	लक्ष्मीसेन भट्टारक मठ, कोल्हापुर
म	-	तेरापन्थी मन्दिर, बम्बई
स	-	श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, लखनऊ
ग	-	श्री दि. जैन मन्दिर, चौकपुरीवाली गली, लखनऊ
प	-	भण्डार ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना, नं. २९०।

इस संस्करण के तैयार करने में हमने जिन विद्वानों के ग्रन्थों का उपयोग किया है उनमें प्रमुख हैं डॉ. ए.एन. उपाध्ये। उनके प्रति हम साभार कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। हमने भी कुछ और प्रतियों का अवलोकन किया पर वे सभी इन्हीं प्रतियों की प्रतिलिपियां प्रतीत हुईं। इस संस्करण को हमने 'बारसाणुवेक्खा' नाम दिया है जिसे कुमार कार्तिकेय ने स्वयं गाथा क्र. ४९० में स्वीकार किया है। आचार्य कुन्दकुन्द का भी बारसाणुवेक्खा ग्रन्थ प्रसिद्ध है। अतः हमने उससे पृथक् पहचान बनाये रखने की दृष्टि से ब्रेकिट में 'कत्तिगेयाणुप्पेक्खा' नाम भी दे दिया है। विषयसूची में टीकागत विषय का भी उल्लेख कर दिया है ताकि पाठक को उसकी भी जानकारी हो सके।

प्रस्तुत संस्करण आध्यात्मिक मनीषी जैनदर्शन के गंभीर विद्वान पूज्य स्वामीजी का स्नेहिल पथ दर्शन और सान्निध्य का ही परिणाम है। उन्हीं के निर्देशानुसार यह सुन्दर संस्करण आपके समक्ष है। मेरी पत्नी डॉ. पुष्पलता जैन ने भी भाषाविज्ञान विषयक अनेक सुझाव दिये जिनका उपयोग इस संस्करण में किया गया है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष - अप्रत्यक्ष रूप में सभी सहयोग देने वालों के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

प्रोफेसर (डॉ.) भागचन्द्र जैन भास्कर

तुकाराम चाल, सदर, नागपुर - ४४० ००१
फोन नं. : ०७१२ - २५४१७२६
दिनांक : २६/०६/२००८

संयुक्त निदेशक,
राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं शोध संस्थान श्रवणबेलगोल,
मैसूर विश्वविद्यालय (हासन) कर्नाटक